अशब्द की ओर

विमला ठकार

अशब्द की ओर

[महाबलेश्वर-ध्यानशिविर (१६८८) के
प्रवचन-प्रश्नोत्तरियों का संकलन]

(मूल मराठी से हिन्दी रूपान्तर)

विमला ठकार

VIMAL
PRAKASHAN TRUST
'Vimal Saurabh'
Vaniya Wadi Street No. 9,
Rajkot-360 002. (Guj.)
Mob. : 99255 29096
E-mail : vimalprakashantrust@yahoo.com

विमल-प्रकाशन-ट्रस्ट
अहमदाबाद

© विमला ठकार/विमल-प्रकाशन-ट्रस्ट
शिवकुटी, आबू पर्वत
307501 (राजस्थान)

विमल-प्रकाशन-ट्रस्ट
कृष्णकुटी, 5 थियोसॉफ़िकल हाउसिंग् सोसाइटी
बाबा साहेब ना बंगला नवरंगपुरा,
अहमदाबाद–380009

Books available at:
VIMAL PRAKASHAN TRU
"SANTKRUPA"
103, 1st FLOOR, RATNAM TO
B/H. CHIEF JUSTICE'S BUNG
JUDGES BUNGALOW ROAD,
BODAKDEV, AHMEDABAD -
PHONE NO: -079 6854991

प्रथम संस्करण 1989

मूल्य ● रुपये Rs 35 = 00

मुद्रक :
वर्द्धमान मुद्रणालय,
जवाहरनगर कालोनी,
वाराणसी–221010

॥ हरिः ॐ तत् सत् ॥

निवेदन

१९८८ में जनवरी २५ से ३१ तक महाबलेश्वर में।पूरे महाराष्ट्र का प्रतिनिधित्व करते हुए सौ से भी अधिक, गम्भीर जिज्ञासु (किशोर-युवा-प्रौढ़-वृद्ध सभी वयस् के तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के) व्यक्ति श्र० विमला जी के तत्त्वाधान में मौन-ध्यान-शिबिर के लिए सम्मिलित हुए थे। डॉ० श्री हु० न० फडनीस (सपरिवार) के कुशल कर्मयोग को सुचारु व्यवस्था, "गिरिविहार" के आश्रमतुल्य वातावरण, सभी शिबिरार्थियों की प्रामाणिक जिज्ञासा एवं श्रद्धा से सुरभित शुश्रूषा (श्रवण-अभीप्सा) के परिवेश में, उन सात दिनों में शुद्ध व जीवन-रससमृद्ध मराठी भाषा में छह प्रवचनों एवं सात प्रश्नोत्तरियों के रूप में जो विमल वाणी प्रवाहित हुई उसका आस्वादन-लाभ हिन्दी-भाषी (अथवा मराठी न समझ सकने वाले) जिज्ञासु-साधक भी ले सकें इस भावना से यह हिन्दी सङ्कलन प्रस्तुत है। इन प्रवचन-प्रश्नोत्तर आदि में श्र०"दीदी" के मुख से अनेकों मराठी व गुजराती सन्तों के वचन-पद-भजन आदि उद्धृत हुए—गाये गये, उन सबका भी (अनुवाद-क्रम में अनायास हुआ) हिन्दी रूप ही इस सङ्कलन में आया है। प्रत्येक पृष्ठ का मुख्य आशय या वादी स्वर (Key Note) ऊपरी पंक्ति में विषय-रूप से रखा गया है। जहाँ-कहीं भी भाषा की अशुद्धि, भाव के प्रति अन्याय, सम्पादन में त्रुटि एवं प्रमाद प्रतीत हो—उसके लिये सहृदय पाठकों से क्षमा-याचना के साथ प्रार्थना भी है कि कृपया अवश्य सूचित करें।

प्रवचनों तथा प्रश्नोत्तरियों की समाप्ति वाले पृष्ठों पर नीचे बचे स्थान में उस-उस प्रकरण के सन्दर्भ के अनुकूल वाक्य एवं कवितांश, तथा पुस्तक के अंतिम पृष्ठों पर दी गयी कवितायें श्र०दीदी की ही वाणी के अन्य (कुछ वर्षों से अप्राप्य) सङ्कलनों ('पावक-स्फुलिङ्ग' 'मौन के अनुनाद') में से उद्धृत हैं।

अल्प समय में ही यथासंभव शुद्ध मुद्रण-प्रकाशन सम्भव बना पाने के लिये पूरे मनोयोग एवं रुचि-सहित जुटे हुए वर्द्धमान मुद्रणालय, वाराणसी के सब कर्मसेनानी अतीव धन्यवाद के पात्र हैं।

रथयात्रा
५ जुलाई—१९८९

विमल-प्रकाशन-ट्रस्ट

ॐ

अनुक्रमणिका

प्रकरण		पृष्ठ संख्या
१. प्रथम प्रवचन		१–१४
२. प्रश्नोत्तरी	(१)	१५–३२
३. द्वितीय प्रवचन		३३–४६
४. प्रश्नोत्तरी	(२)	४७–६४
५. प्रश्नोत्तरी	(३)	६५–८२
६. प्रश्नोत्तरी	(४)	८३–९९
७. तृतीय प्रवचन		१००–१११
८. प्रश्नोत्तरी	(५)	११२–१२५
९. चतुर्थ प्रवचन		१२६–१३९
१०. प्रश्नोत्तरी	(६)	१४०–१५४
११. पञ्चम प्रवचन		१५५–१६०
१२. प्रश्नोत्तरी	(७)	१६१–१७०
१३. षष्ठ प्रवचन		१७१–१८९

●

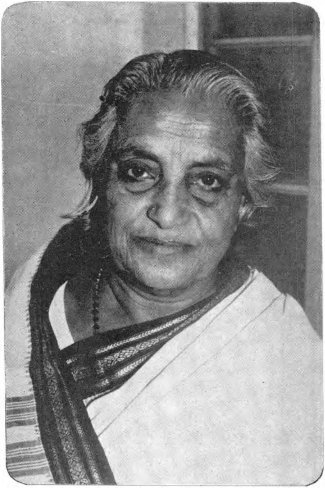

"नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि"

["न मुझे कुछ अप्राप्त है, न कुछ प्राप्त करना ईप्सित है,
फिर भी सहज रूप से सतत कर्म में स्थित हूँ"]

प्रथम प्रवचन

दि० २५-१-८८ सुबह

इस प्राचीन-सनातन देश में धर्म-अध्यात्म के विषय पर प्रायः सभी भाषाओं में इतना अपार साहित्य है पर उस साहित्य को हृदयङ्गम करके जीने वाले व्यक्ति क्वचित् ही दिखाई देते हैं। इतने स्तोत्र गाये जाते हैं, भजन गाये जाते हैं—तो भ्रम होता है कि ये शब्द, गाने वाले का भाव कह रहे हैं या केवल जानकारी का प्रतिपादन कर रहे हैं।

शब्दों से केवल जानकारी होती है। जानकारी ग्रहण करने, स्मृति में धारण करने और बुद्धि द्वारा घण्टों उस विषय में चर्चा करने में हम भारतीय बड़े कुशल हैं। किन्तु शब्दों से घटित इस जानकारी-मात्र से उसके द्वारा प्रतिपादित यथार्थ सत्य का, तत्त्व का साक्षात्कार हो—अनुभव आये—यह जरूरी नहीं। ज्ञान का अर्थ अनुभूति नहीं, प्रत्येक ज्ञान प्रत्यय नहीं बनता।

"जानें स्वयं का स्वत्व"—वह शाब्दिक ज्ञान से नहीं होता। जानकारी एकत्र होना ज्ञान नहीं।

"देखें स्वयं का स्वत्व, वही कहलाता ज्ञान !"

—श्रीज्ञानेश्वर

"अध्यात्मविद्या विद्यानाम्" कह कर जो अध्यात्म का वैशिष्ट्य कहा गया वह यह है कि शब्दों के अर्थ को देखने की कला इस विद्या द्वारा मनुष्य हस्तगत कर सकता है। "देखने" का आशय है साक्षात्कार। साक्षात्कार यानी अपने सर्वेन्द्रियों में, सर्वाङ्ग में, जो कुछ घटित होता है उसे पूरा-पूरा देखना। कम्पन से उसका प्रारम्भ होना—स्पन्दन में विकास होना, स्पन्दन के भी पार जाकर नाद व प्रकाश द्वारा इस पिण्ड में अघटित घटित होना—यह अध्यात्मविद्या का विषय है।

किन्तु यदि शब्दों पर ही सन्तुष्ट रहें, शब्दों का जो कोशगत अर्थ है उसका भावना से स्पर्श हो, तो एक प्रकार का मादक सुख या आवेग होता है। भावना का नशा चढ़ता है। अर्थ की खुमारी चढ़ती है। और हमें लगता है कि हमें बोध हो गया। विवेकानन्द के ग्रन्थ पढ़कर श्री कृष्णमूर्ति के ग्रन्थ पढ़कर अल्पजीवि आवेग या आवेश पैदा न हो जाये, ऐसा प्रायः नहीं होता। पर हम इतने अल्प-सन्तोषी लोग हैं कि उन क्षणजीवी

आवेग-आवेश के, उनमें चढ़ने वाली मस्ती के, उस सुख को हम ब्रह्मानन्द ही मान बैठते हैं।

साहित्य-से भी तो सुख होता है, साहित्य-काव्य में जो रस होता है उस रस के सेवन की कला यदि अपने में हो, संवेदनशीलता हो—तो उन नाटक-उपन्यास अथवा निबन्ध आदि पढ़ने से भी—घड़ी दो घड़ी, प्रहर-दो प्रहर मनुष्य को लगता है कि भीतर से हिल गये हैं, बदल गये हैं। किन्तु आवेग-आवेश से होने वाली यह अल्पजीवी बदलाहट कहीं मूल-गामी परिवर्तन नहीं होता। वह गुणात्मक क्रान्ति नहीं। वह आन्तरिक समग्र वृद्धि नहीं।

Spirituality, the science of life, is concerned with the growth & Maturity of your totality : बुद्धिरंजन, मनोरंजन, क्रिया प्रतिक्रियाओं में घटित होने वाले आवेग-आवेश, शरीर-मन-बुद्धि की सुप्त शक्तियों को जागृत करके होने वाली अनुभूतियां, या उन शक्तियों का विकास साधना--ये सब जो आंशिक खेल हैं—उसका अध्यात्मविद्या से कोई सम्बन्ध नहीं है। उससे घटित होने वाला शारीरिक-मानसिक-बौद्धिक परिष्कार, बुद्धि की चमक, वाणी का तेज, व्यवहार में परिष्कृ-तता देखकर हम उससे प्रभावित-मोहित हो जाते हैं।

इन शारीरिक-मानसिक-बौद्धिक स्थूल आवरणों को भेदते हुए इनके पार जाने की उत्कण्ठा "मनुष्याणां सहस्रेषु"—हजारों में किसी एक को ही होती है।

[इसीलिये इस गम्भीर मौन शिविर में इतनी संख्या में आप सब सम्मिलित होंगे—इसकी कल्पना मुझे नहीं थी।]

श्रान्तों को विश्रान्ति देने के लिये, थके-माँदे-टूटे जीवों को कुछ मनो-रंजन-बुद्धिरंजन देने के लिये जो सत्सङ्ग मन्दिरों-मठों में से मिलता है, उसका जीवन में कोई स्थान नहीं—ऐसा मेरा आशय नहीं; किन्तु अध्यात्म तो "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' (बहुत पैनी दुरूह छुरे की तीक्ष्ण धार) है। क्योंकि यहाँ तो सब भ्रान्तियाँ भेद कर तराश कर जो परम-चरम-अन्तिम सत्य है, जो यथार्थ तत्त्व है—उसे जानना-देखना और उससे अनुसन्धान साधकर जीना है। सत्य से अनुसन्धान साधकर जीना ही आध्यात्मिक जीवन है। वह भक्ति के नाम से हो या ज्ञान के नाम से। आज कल तो धर्म व अध्यात्म के व्यापार का जमाना है।

"This the age of commercialisation of life, religion, spirituality, God & what have you" सभी कुछ का व्यापारीकरण है, नफे-नुक्सान का हिसाब है। अध्यात्म में तो कमाने का कुछ भी नहीं है जी ! कहीं से कुछ भी मिलेगा नहीं। केवल जानना है, समझना है, देखना है और जीना है। समझे हुए सत्य का अनुबन्ध प्रत्येक शारीरिक-मानसिक बौद्धिक कर्म से जोड़ना है।

पिछले दो वर्ष यहाँ पर जो शिविर हुए उनमें हमने शब्दों की मदद से केवल संवाद ही किया, केवल प्रश्नोत्तरी की—ऐसा नहीं, बल्कि, इन शब्दों की मदद से, काव्य-भजनों की मदद से, कल्पना के पंखों पर आरूढ़ होकर अनुमान लगाने का प्रयत्न किया कि इन शब्दों से परे क्या है ?—

'यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते।'····

वह 'ब्रह्म' क्या है ? इसको कल्पना की, चर्चा की, इसी विषय में संवाद किया हमने। पर अब इस शिविर में क्या होना है ?—हमारे ज्ञानराय के शब्दों में :—

"शब्दों बिना संवाद करें, इन्द्रियों से चुरा कर सेवन करें !"
इन्द्रियों को आहट न लगे और सेवन हो जाय। इसका उदाहरण कैसा सुन्दर दिया है—"जैसे चकोर ज्योत्स्ना का अमृत ऐसे पीता है कि चन्द्र-किरणों को भी मालूम न पड़े।" चकोर वह समझ व कर पाता है तो हम क्यों न समझ पायेंगे।

अतः हमें देखना है कि इन पाँच छः दिनों के लिये शब्दों का सङ्ग छोड़ सकते हैं क्या ? एक खेल की तरह यह प्रयोग है। इसीलिये इस शिविर के लिये मैंने कहा था कि इसमें सम्मिलित होने वाले व्यक्ति इस परिसर में एवं अपने निवास-कक्षों में भी कम से कम वाचिक मौन तो रखें।

आन्तरिक या अन्तरङ्ग मौन तो वह होता है जब भीतर संकल्प-विकल्प विचार तक नहीं उठते। विकार स्फुरित नहीं होते। ऐसा जो मौन का सत्त्व है वहाँ तक तुरन्त न भी पहुँच पायें। पर यह तो देखें कि बोले बिना अपने को कैसा सूना-सूना लगता है ? शब्दों का कैसा चस्का है हमें ? उन शब्दों से जागने वाली भावना, स्पन्दन, उनमें से आने वाली उत्तेजना या विषाद अपना आहार है।

The subtle sensual pleasure stimulated through verbalisation—our own or from others ! हम स्वयं बोलें या दूसरों से सुनें—उसे बोलने-सुनने में जो सूक्ष्म सुखभोग हम पाते हैं वह हमारा आहार है, मन को उसका व्यसन है।

वह व्यसन कितना गहरा है यह तो इन पाँच दिनों में आप देख सकेंगे। अपने आपको पूछ सकेंगे कि क्यों बोले-सुने बिना सूना-सूना लगता है ? क्या कमी महसूस होती है ? क्या खो जाता है ? जन्म भर तो बोलते आये, और महाबलेश्वर का यह शिविर पूरा होते ही फिर बोलना ही है, तो इतने से दिन का यह बोलने का उपवास अखरता क्यों है ? क्योंकि इन्द्रियों को आदत पड़ी है—बोलते रहने की। जो लोग भीतर बोलते हैं उन्हें 'गुपचुप्पा' 'घुन्ना' (Reserved) कहा जाता है, वे भीतर ग्रन्थियाँ पैदा करते हैं, और जो बाहर बोलते रहते हैं वे परस्पर व्यवहार में ग्रन्थियाँ पनपाते हैं।

यह अपना पूरे समय का धन्धा है।····क्या घट जायेगा या बिगड़ेगा हमारा यदि पाँच दिन बोलें नहीं तो ?—आपको लगता होगा कि "फिर करेंगे क्या ?" कुछ नहीं करना है, बस जीना है ! खाना-पीना-सोना-नहाना-धोना आदि तो यथासमय होगा ही, बाकी समय बस शान्त बैठना या चुपचाप घूमना है "पर यहाँ इस बड़े कक्ष में जो 'मौन में बैठना' है वह क्या है ?"—कुछ भी न करने के लिये ही बैठना है। "पर हम चुपचाप बैठे हों तब भी भीतर मन तो चलता ही रहता है।" तो देखते रहिये उसे। कम से कम थोड़ा-सा गर्वहरण होगा कि यह मन हमारे चलाये नहीं चलता, न हमारे रोके रुकता है ! जिसे हम विचार करना कहते हैं वह अपना स्वायत्त कर्म है या अनैच्छिक क्रिया है ? वह सर्जनात्मक कर्म है या यान्त्रिक क्रिया है ?—इसकी पहचान होने दें। जब हम यहाँ आकर बैठें, आँखें भी बन्द कर लें,—कुछ भी करना नहीं, चलना-फिरना नहीं, देखना-सुनना तक नहीं, भीतर कोई जप आदि भी नहीं करना है। कहीं जाना नहीं। कोई गन्तव्य नहीं, कर्तव्य नहीं, मन्तव्य नहीं। ऐसे हम निपट अपने साथ केवल बैठ पाते हैं या नहीं ? यदि मन चलता हो, उसकी चित्रात्मक या शब्दात्मक गति होती हो, तो उसे देखते रहें। मन से एक नयी तरह का सम्बन्ध होने दें। अब तक जैसा नहीं, कि मन ने कोई माँग उठायी कि हम दौड़ें उसे पूरी करने ! वह जो-जो माँगे उसे देते चलें ! वह जैसा कहे वैसा हम नाचें ?····इसका अन्त लाना है—

"अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल !"

एक नया सम्बन्ध बनने दें मन के साथ कि मन बोलता है, माँगें पेश करता है, बहुत-कुछ दिखाता-सुझाता है, पर हम अपनी जगह चुप बैठे हैं। वह क्या कहता है—यह सब हम समझते हैं, पर अपनी जगह स्थिर हैं। यह दृष्टि की स्थिरता, वृत्ति की स्थिरता, देखने के कर्म की स्थिरता इन पाँच-छह दिनों में उत्पन्न होने दीजिये।

यह हो सका तो बहुत बड़ी बात होगी। फिर आप अपने-अपने घर लौटेंगे तब मन के सामने कोई विषय आया, कोई घटना घटी तो पल भर में वह दुनियाँ नहीं घूम आयेगा। जो देखना है उसे स्थिरता से, अचञ्चल रहते हुए देखना आयेगा। यह दर्शन-कर्म का शुद्धिकरण है। (Purification of perception.)

आखिर समस्त साधना इस शुद्धि के लिए ही होती है, कुछ प्राप्त करने के लिये नहीं।

"प्रत्यवायनिवारणार्थे साधना न तु प्राप्त्यर्थे"

परमात्मा, चैतन्य, सत्ता स्वयम्भू है, अनन्त है। उसीका विस्तार हो जब यह अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड हैं, उस सत्ता के आश्रय से ही यदि हमारा जीवन चलता है, तो वह आत्मा-परमात्मा क्या प्राप्त करने की वस्तु है? "अप्राप्तस्य प्रापणम्!" जो अपने पास न हो, दूर हो, उसे प्राप्त करना पड़ता है। जो प्राप्त ही है उसकी उपलब्धि हो सकती है, वह प्राप्त ही है इसकी पहचान हो सकती है। जो प्राप्त है उसके अभिमुख-सम्मुख हुआ जा सकता है। बाकी सब क्रियायें छूट कर अपने उस परम सत्त्व के सान्निध्य का आनन्द लूटा जा सकता है। अर्थात् प्राप्ति उपलब्धि में परिणत होती है।

जो व्यक्ति नये आये होंगे, जिन्हें इन "विमला जी"—नामक व्यक्ति से परिचय नहीं, उन्हें बताना चाहती हूँ कि इस "मौन" नामक नई वस्तु का भय न रखें। आप यहाँ स्वस्थ स्थिर होकर बैठें। "स्थिरसुखमासनम्"—सुखपूर्वक आराम से लम्बे समय तक बैठ सकें ऐसे आसन से बैठें। हो सके तो पद्मासन, नहीं तो अर्धपद्मासन, वज्रासन, वीरासन या सुखासन (पालथी) लगा कर बैठें। रीढ़ एवं गर्दन सीधी रखें, ताकि श्वासोच्छ्वास भली भाँति निर्विघ्न, लयबद्ध चले। उसमें लय निर्माण करना न पड़े। फिर आँखें बन्द रखे हुए अपने आप में रहें। भीतर जो भी चले या दिखे, उसे देखते रहें।

हमारे एक मुसलमान मित्र हैं, अच्छे शायर हैं। सुशिक्षित एम० ए० पास युवक हैं। किसी तरह की कोई नौकरी करना नहीं चाहा।

एक एकड़ जमीन लेकर उसमें गुलाब का बगीचा लगाया है, वे फूल बेचते हैं, उससे जो अर्जन होता है उसी से अपना निर्वाह करते हैं। उस खेत में अपने हाथों एक झोंपड़ी बना ली है और काली माँ का मन्दिर बनाया है। बड़ा कालीभक्त है। परसों उनका पत्र आया मेरे पास। उस पत्र में एक शेर लिखा था—(गुजराती में) "अपनी गर्दन पर युगों-युगों से भार ढोते हम चलते आये हैं। इस बोझ को एक बार नीचे उतार कर देखें तो सही कि उस में क्या-क्या भरा है ?"

"मैं ! मैं ! मेरे विचार, मेरे गुण, मेरे दोष, मेरी शक्ति—अहं के बोझे में ममभाव की गाँठ बाँध रखी है। यहां हम इस प्रकार शान्त बैठेंगे तो उस गट्ठर में जो भरा है वह धीरे-धीरे बाहर निकलता आयेगा।

बंगाल में महात्मा गाँधी के एक साथी थे, बड़े ज्ञानी। उन्होंने जीवन की सन्ध्या में एक भजन लिखा था (उसका अनुवाद एक प्रसिद्ध गुजराती कवि ने किया हुआ है–)

"म्हारी ज्ञान-गुमाननी गांसडी उतरावो शिरे थी आज।
म्हारी पुस्तक पोथीनो पोटलो उतरावो शिरेथी आज।
बोझो खेंची-खेंची हाँफे छे हैयुं, आंखें अन्धारा घेराय !"

("हे प्रभु मेरे ज्ञान-गुमान के अहंकार और ममता का गट्ठर अब सिर पर से उतरवा दीजिये। इसका बोझ ढोते-ढोते अब हृदय हांफने लगा है, आँखों के सामने अंधेरा छा रहा है। अशक्ति व थकान से चक्कर खा रहा हूँ। जरा घड़ी भर विश्राम कर लेने दीजिये, चैन से श्वास ले सकूं, मेरी मदद कीजिये प्रभो !")

यहाँ हम जो सुबह-शाम दोपहर बैठने वाले हैं–वह ऐसी चैन की सांस लेने के लिये ही। मन को सुकून आये। उसे विचार न करना पड़े; विकारों के पीछे दौड़ना न पड़े। उन विचार-विकारों को कोई दिशा न देनी पड़े गति करने के लिये। ऐसा सुवर्ण अवसर हम मन को देने जा रहे हैं। बहुत महत्त्व की घटना है।

यही बात हम यदि अकेले-अकेले अपने घर करने चलते हैं तो पहले पहले जी घबराता है, भय प्रतीत होता है क्योंकि पहले कभी ऐसा किया नहीं है। यहाँ तो ५०-६० लोग एक साथ, एक ही हेतु से एक इच्छा से बैठेंगे, तो परस्पर की उपस्थिति-मात्र से भी शक्ति मिलती है, सांत्वना रहती है।

इस तरह हम अपने भीतर देखेंगे, वहाँ जो कुछ है उससे एक नया सम्बन्ध-निर्माण होगा। अब तक हमारी भूमिका रहती थी—कर्ता-भोक्ता की। अब जो नया सम्बन्ध बनेगा वह होगा द्रष्टापन (द्रष्टृत्व) का। पूरी चेतना The whole consciousness gets converted into observation pure perception, bare cognition. बैठे हैं मौन में। घटित होता है ब्रह्माण्ड ! यदि हम होने दें तो। लगाम अपने हाथ में लेकर बैठेंगे तो कुछ नहीं होगा। वासुदेव कहते हैं, लगाम मुझे दे दो ! अर्जुन के रथ में वे सारथि होकर बैठे हैं। कहा—"तू रथी होकर बैठ, लगाम मेरे हाथ में सौंप दे। घोड़ों को मैं चलाऊंगा।"

अपने भी जो इन्द्रिय घोड़े हैं, उनकी लगाम पकड़े हम हमेशा से बैठे हैं, अब मौन में वह लगाम अलग रख देनी है। हम जहाँ है वहीं रहेंगे। तुकारामने कहा है—"रातदिन हमें तो युद्ध का प्रसङ्ग है—वह है परस्पर सम्बन्धों में जूझना। अब उस युद्ध को केवल देखना भर है, उसमें शामिल नहीं होना है। एक साथ बैठ कर, परस्पर उपस्थिति की ऊष्मा के हौंसले से, कुछ नई बातें होंगी—१) बोझा सिर से उतार रखना, २) उस गठरी को खोलकर देखना कि उसमें क्या-क्या भरा है ? ३) जो दिखे उसके प्रति कर्तृत्व-भोक्तृत्व का सम्बन्ध विसर्जित करके नया केवल द्रष्टृत्व का सम्बन्ध जागृत करना।

यह जो बिन्दु है यह बहुत महत्त्व का (Crucial) है। यह जो अवलोकन—देखना, प्रेक्षण है—इस कर्म में दृष्टि स्थिर हो जाय तो वृत्ति स्थिर होती है—यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य मुझे आपके सामने रखना है। दृष्टि स्थिर होकर वहां केवल एक अवलोकन ही शेष रहता है। "मैं देख रहा हूँ" यह भाव भी नहीं रहता। जब देखने का कर्म स्थिर हो जाता है तब देखने वाला पिघल कर विलीन हो जाता है। (The consciosness that one is observing melts away when the act of preception becomes steady.)

देखने के कर्म में भी अहंकार की जो अन्तिम डोर उसके हाथ में रहती है "मैं देख रहा हूँ"—वह भी गिर जाती है। वह हमें छोड़नी नहीं पड़ती, स्वयं छूट जाती है।

जिन्होंने विज्ञान का अध्ययन-अभ्यास किया होगा, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव-विज्ञान की प्रयोग शालाओं में सूक्ष्मनिरीक्षक यन्त्रों से काम किया होगा, उन्हें अनुभव में आया होगा कि उस समय यदि चित्त चंचल हो, भावनाओं वासनाओं के आवेग हों—तो आप जो वस्तु देख रहे हों उस पर उन सबका परिणाम होता है।

The qualitative nature of the unit of the perception & observation, goes through a subtle change, according to the state of conciousness of the observer or perceiver.

आप किन्हीं भी बड़े पदार्थ वैज्ञानिकों के ग्रन्थ देखें (डेविड बोम-डा० उम्बेर्तो या काप्रा""इत्यादि) उन्हें बड़ा आश्चर्य है इस बात का कि देखने वाले की चित्तदशा का उस देखने के विषय या पदार्थ पर बहुत परिणाम होता है।

दृष्टि स्थिर होने पर देखने वाले की ओर से कोई भी अध्यारोप (imposition) उस पदार्थ पर नहीं होता। आप की वासना-कामना आवेग के प्रभाव से आपके नाड़ीतन्त्र में एक प्रकार का रासायनिक असन्तुलन पैदा होता हैं। आप चिकित्सकों को पूछें—मनःशारीरिक (Psychosomatic) बीमारियों की उत्पत्ति का कारण व प्रक्रिया (genesis) क्या है? प्रत्यक्षीकरण व अन्तःरचना (Biology of perception & Cognition) का अध्ययन करने वालों को पूछ देखिये।

तो उक्त दृष्टि स्थिर होने पर पदार्थो पर जो देखने वाले का आक्रमण होता था वह समाप्त हो जाता है। शेष रहता है केवल पदार्थ और अवलोकन। उसके बीच आने वाले सब प्रत्यवाय, विक्षेप, अन्तरपट, पर्दे, हट जाते हैं। ये जो अपने चित्त में खलभलाते हुए विचार-विकार, उभरती कल्पनायें, बहती स्मृतियाँ, आदि पदार्थ को ढकेलते थे—ये हट जायें, बीच में न आवें तो उस स्थिर सीधी दृष्टि से होने वाला दर्शन का शुद्धिकरण घटित होता है, तब उस सत्ता (जिसे कोई अनुभूति या मन की कोई भी वृत्ति स्पर्श नहीं कर सकती) से सम्बन्ध होगा, उस की यथार्थता का स्पर्श होगा। आज वह स्पर्श नहीं हो पाता क्योंकि भीतर से ही अनेक विघ्न खड़े हैं !

आप देख रहे हैं न ! कि इस एक "मौन" के अभ्यास में कितना बड़ा ब्रह्माण्ड भरा है ? अतः यह मलाल न रखें कि "हमें जप करने को नहीं कहा, कोई बिन्दु या ज्योति आदि पर ध्यान एकाग्र करने को भी नहीं कहा।"—अरे एकाग्रता-अनेकाग्रता रहने दें, सर्वाग्रता होने दीजिये ! सावधानता होने दीजिये। इस सावधानता के आयाम में—द्रष्टा और दृश्य रूप में सजी सामने खड़ी सत्ता से मिलन स्वयं ही होगा। "मिलन हो-मिलन हो" ऐसा रटने से मिलन नहीं होता। सत्ता को इन्द्रियाँ तो स्पर्श कर नहीं सकतीं। उनके लिये तो नाम-रूप होना जरूरी है। इस व्यक्त जगत् में नामरूपों से ही तो हमेशा सम्बन्ध आता है, इन्हीं में

जीना—इन्हीं के साथ खेलना होता है ! मौज है इसमें। और जो अव्यक्त है उसे मन द्वारा, बुद्धि द्वारा, विचारों-भावनाओं द्वारा, वाणी के संकेतों द्वारा स्पर्श किया जाता है। पर वह सब भी जहाँ नहीं पहुँचता—वहाँ क्या करेंगे ?

"यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि न इदं यदिदमुपासते ।
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतं····
यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते·····"

कानों से सुना नहीं जाता, मन से मनन नहीं किया जाता और वाणी लजाकर लौट आती है। वहाँ फिर क्या रहेगा ? केवल सत्ता रहेगी, द्रष्टृत्व रहेगा। उस सत्ता का संस्पर्श हो सके ऐसी क्षमता अपने में उत्पन्न करनी है। क्रिया-प्रतिक्रियाओं के बीच दिन-रात रहने से एक प्रकार की जड़ता आ जाती है। हम यह न मानें कि जड़ता केवल तमोगुण से ही आती है। तमोगुण से जड़ता तो शरीर में आती है। और क्रिया-प्रतिक्रियाओं में जो ग्रस्त-व्यस्त रहते हैं उनकी जड़ता आन्तरिक होती है। तमोगुण की जड़ता बाहर शरीर पर होती है, और रजोगुण की जड़ता भीतर मन पर हावी होती है। अब हम इस जड़ता का त्याग करने जा रहे हैं। अपने हाड़-मांस-रक्त-मन-बुद्धि पर संस्कारों के रूप में जो जड़ता छायी हुई है उसका अवलोकन करने लगते हैं और वह दृष्टि स्थिर होती है तब इन सब विकार-विचार-संस्कारों को भेद कर अवलोकन इनके पार निकल जाता है। ऐसी इस मौन की महिमा है। यह निष्क्रियता नहीं है। अतः यह न सोचें कि—"घण्टों-घण्टों खाली बैठना क्या ? यह अकर्मण्यता क्या साधना है ?"

यह अकर्मण्यता नहीं, भारी पुरुषार्थ करना होता है 'मौन'-कर्म में। चञ्चलता से पृथक् होकर स्थिरता की ओर जाना है, स्थिरता में प्रतिष्ठित होना है। शब्दों से नाद की ओर मुड़ना है, नाद से बिन्दु की ओर, बिन्दु से शून्य की ओर मुड़ना—बहुत बड़ा पुरुषार्थ है।

मौन क्या है—इसकी ओर यहाँ अभी हमने एक दृष्टि बिन्दु से देखने का प्रयत्न किया। मौन की ओर अनेक पहलुओं से अनेक दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। अपने पास दिन (समय) कम हैं विषय गहन गम्भीर है, इसलिये प्रत्येक दिन प्रातः-सत्र में हमें (श्रोता व वक्ता को) मिलकर काफी परिश्रम करना पड़ेगा। श्रोताओं के सहकर्म बिना वक्ता

वक्ता नहीं हो सकता। श्रवण यानी ग्रहण करने वाला कोई न हो तो संवाद घटित नहीं हो सकता। मैं कितनी भी गहराई से बोलूं, विषय को विशद करना चाहूँ पर आपका सहकार न हो तो बात नहीं बनेगी। और यह विषय ऐसा है कि इसे बहुत रोचक बनाया नहीं जा सकता। इसमें किस्से-कहानी-चुटकुले जोड़े नहीं जा सकते। नमक-मिर्च-मसाले बिना का यह भोजन है। (जो स्वाद में रुचिकर नहीं, परिपाक में पौष्टिक व स्थायी आरोग्यप्रद है।)

ऊपर कही बातें यदि जँची हों, 'मौन कोई निष्क्रियता-अकर्मण्यता नहीं, इस क्रियारहितता में कोई डरने की बात नहीं'—इतना यदि समझ में आ गया हो तो मेरे साथ आगे चलें। मौन को अब हम दूसरे दृष्टिकोण से देखें।

आप और मैं घोर कलियुग में जी रहे हैं। आज की दुनिया असत्य-अनाचार-अन्याय-अधर्म-शोषण-हिंसा के पहियों पर सरक रही है। मनुष्यों में परस्पर स्पर्धा है कि एक-दूसरे का शोषण करने में कौन आगे रहेगा? ऐसे समाज में हमें जीना है। सुबह से रात तक धक्कामुक्की चलती है। इसमें जिन्हें नौकरी करनी है, व्यापार धन्धा-उद्योग—करना पड़ता है, आजीविका कमानी पड़ती है, वे लोग थक जाते हैं।····फिर—पैसों से आने वाली शक्ति, विचारों से आने वाली शक्ति, ध्येय-आदर्श-सिद्धान्त आदि के नाम पर जबर्दस्ती चढ़ाया हुआ नशा (Intoxication in the name ot ideology)—इत्यादि के कारण मनुष्य पिस जाता है। धन-संग्रह, विचार-संग्रह, शब्दज्ञान-संग्रह अथवा अतीन्द्रिय शक्तियों व अनुभूतियों का संग्रह—ये कोई भी हमें आन्तरिक शान्ति या सन्तोष दे नहीं पाते। सर्वाङ्ग में सन्तुलन का प्रसाद हो, शान्ति का आह्लाद हो—यह हो नहीं पाता। "आत्मनि एवात्मना तुष्टः"—अपने भीतर जो अपना सत्त्व है, उस सत्ता में ही, उस सत्ता से ही सन्तोष प्रतीत हो—ऐसी अपनी स्थिति नहीं है। पूरे विश्व में—भारत हो या अन्य कोई पश्चिमी-पूर्वी देश हो, सब जगह—मनुष्य आज श्रान्त-क्लान्त-उद्विग्न है। सम्पन्न से सम्पन्न देश देखे हैं और अतीव वैभवशाली सम्पन्नतम परिवारों में अतिथि होने का योग भी इस जीवन में आया है। भारत के रजवाड़े हों या अन्य देशों के करोड़पति या अब्जाधीश लोग हों,—जिस "आनन्द से समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई है, जिस आनन्द द्वारा जीवित है, और आनन्द में ही अन्त में विलीन हो जाती है"—वह आनन्द कहीं देखने को नहीं

मिला।"......मनुष्य ने सुख कमा कर देखा, दुःखों से भाग कर देखा पर शान्ति-सन्तोष-समाधान नहीं पाया।

यह यदि समझ चुके हों तो अब, बाहर से दृष्टि लौटाकर भीतर मुड़कर देखें कि अपने अन्दर ही तो वह शक्ति नहीं पड़ी जो आनन्द का स्रोत हो! भीतर कोई ऐसी ऊर्जा है? जो संस्कारों से—विचार-विकारों से अस्पृष्ट हो! या कि हमें इसी संस्कारित मन के साथ ही जीना होगा इन इन्द्रियों के चक्रव्यूह में ही पड़े रहना होगा? क्या यही जीवन है? या इससे अलग भी कुछ है? ऐसी—"अथातो आनन्दजिज्ञासा" "अथातः प्रेमजिज्ञासा" "अथातः सन्तोषजिज्ञासा" ऐसे जिज्ञासा किसी भाग्यशाली के चित्त में जाग उठे तो वह क्या करेगा? यदि वह जिज्ञासा वेद-उपनिषद्, कुरानेशरीफ, जिन्दअवेस्ता आदि के अध्ययन-मनन से सन्तुष्ट न होती हो, तो एक बार शब्दों का किनारा छोड़ कर देखें। कोई नई दिशा खोजनी होगी। शब्दज्ञान की दिशा देख ली गई, क्रिया-प्रतिक्रियाओं की दिशा में भी जाकर देखा गया। तन्त्र-मन्त्र-हठयोग-लययोग करके देख चुके हुए लोग भारत में हैं। आसेतु हिमालय फैले हुए ऐसे योगियों-साधकों से मिलना हुआ है। उनके आश्रम देखे हैं। शब्द की शक्ति और ऊर्जा का बहुत अनुभव लिया जा चुका। शब्दों का अर्थ-घटन अनेक प्रकार से किया जा चुका है। उसका रस चूसने से भी वह जिज्ञासा शान्त नहीं हुई है।

अतः अब शब्दों का किनारा छोड़कर आगे बढ़ें। शब्द से आगे है नाद। नाद में से शब्द बने हैं। By manipulating the sonud-energy you create a word & putting some words in sequence you create a sentence & your grammer etc. ध्वनि-ऊर्जा की विशिष्ट संरचनायें कर के हमने शब्द-वाक्य-भाषा बनायी। इस विशिष्ट से अलग हट कर मूल नाद में लौट कर देखें। मौन में जाने का वह भी एक रास्ता है।

"नादरूपो महाविष्णुः नादरूपो महेश्वरः।
नादात्मिका पराशक्तिः सर्वं नादमयं जगत्॥"

वह नाद शक्ति क्या है देखें। वह बाहर है तो भीतर भी है ही। व्यक्त ध्वनि का--शब्दों का किनारा छोड़कर, उनके अर्थों—भावों का भी आश्रय छोड़कर, सर्वथा निराधार होकर बैठे हैं। शब्दब्रह्म का पसारा जानबूझ कर छोड़ दिया है और नादजगत् की दहलीज पर आ बैठे हैं।

बाह्य जगत् में अनन्त प्रकार के नाद है। पत्थर में अलग नाद है मिट्टी में अलग, सरिता की कलकल और सागर गर्जन अलग है, वन-उपवनों में सरू-पंक्तियों का, बाँस के वनों का, अमराइयों का, तमाल-वनों का, देवदारु-समूहों का नाद अलग-अलग है। पक्षियों के स्वर, निसर्ग के नाद सुनने का एक अनोखा आनन्द है और जब इन बाहर के व्यक्त नादों से भी लौट कर मौन बैठते हैं तो विचारादि का कोलाहल शान्त होने पर भीतर के नाद सुनाई देने लगते हैं।

दो प्रकार के नाद हैं किसी भी घर्षण से उत्पन्न आहत नाद और स्वयंभू स्वयं सिद्ध अनाहत नाद। (Sound born of friction & Homogenious sound, unmutilated by friction.) शान्त बैठने पर श्वासोच्छ्वास का नाद सुनाई पड़ेगा, शिराओं-धमनियों में जो रक्त बह रहा है उस का नाद सुनाई देगा। मौन में पहले हम नादश्रोता बनते हैं।

शब्दश्रवणविसर्जनं नादश्रवणारम्भः।

कितने प्रकार के नाद शरीर में हैं और किस अनुक्रम से उनका श्रवण होता है इस का वर्णन शास्त्रों में है। बहुत गहरे शास्त्रों में न उतरना हो तो —उत्तरगीता (मराठी), अष्टावक्रसंहिता जैसे लघुग्रन्थ देखे जा सकते हैं।

पहले विचारादि को देखते थे, देखना समाप्त हुआ तो नादश्रवण आरम्भ हुआ। यदि जिज्ञासु प्रामाणिकता से, सातत्ययोग से (निरन्तर नियत रूप से) नाद सुनने लगे तो क्रमशः दश नादों के परे जो ॐकार अनाहत स्वयम्भू नाद है, जिसका हमारी क्रिया-हेतु-प्रयोजन-इच्छा आदि से कोई सम्बन्ध नहीं—ऐसा वह स्वायत्त स्वयंसिद्ध नाद सुनाई देने लगता है। इसे सुनने में स्थिर होने वालों के शरीर-मन में भी अनेकों ऊर्जाओं का संचार होता है। यह करके देखने का विषय है, केवल सुनने का नहीं; प्रयोग-गम्य-अनुभवगम्य है। यह केवल मनोराज्य (Wishful thinking) नहीं। २ + ३=५ या H^2o=water की तरह वैज्ञानिक तथ्य है अध्यात्म। यह मैं जिया हुआ सत्य ही मुख से कहती हूँ। जीवन का निचोड़ मित्रवत् बाँट लेने बैठी हूँ; कल्पना नहीं।

हमें भीतर से शक्ति चाहिये न! यह Tonic है, आन्तरिक शक्ति-वर्धक ओषधि है। पर यह स्वयं ही अपने भीतर उपजानी होगी, खोद निकालनी होगी। इसका कोई 'Patent' नहीं ले सकता, 'Tender' नहीं दे सकता। और इस शक्ति का अधिकारी मनुष्यमात्र ही नहीं प्राणीमात्र

है। क्योंकि प्रत्येक के श्वास में यह शक्ति समायी है। इस नादश्रवण से प्रच्छन्न ऊर्जायें व्यक्त होने लगती हैं। पर यह होता है वास्तविक मौन में प्रवेश होने पर ही ! मौन के नाम पर तन्द्रा या जड़ता में डूबने का कोई फल नहीं। अधिकतर लोग ऐसी जड़ता में जाते हैं या स्तब्ध (Blank) हो जाते हैं। एक-दो घण्टे मौनाभ्यास से उठने पर उन्हें व्यवहार भी सूझता नहीं। ऐसे यदि मौनाभ्यास से शक्ति कुण्ठित होती हो, मस्ती आती हो, सन्तुलन न रहता हो तो वह मौनाभ्यास व्यर्थ है, वस्तुतः वह मौन की ओर जाना हुआ ही नहीं यह समझना चाहिये। सन्तुलन और शुद्धि तो मौनाध्यास के सहज-आनुषङ्गिक परिणाम होने चाहियें।

यदि इस स्वयम्भू ॐकार नाद में स्थिर हो सके तो इसका अर्थ है कि आप भीतर के आकाश में (in the emptiness within) प्रतिष्ठित हो गये, क्योंकि नाद आकाश का गुण है।

(You have become unconditionally, allertly sensitively steady in the emptiness of your consciousness.) उसे घटाकाश-चिदाकाश-हृदाकाश कहा जाता है। आकाश का जो यह अवकाश या शून्य है वहाँ तक नाद पहुँचा देता है। "आत्मनः आकाशः सम्भूतः....." आत्मसत्ता की पहली स्थूल अभिव्यक्ति है शून्य-आकाश।

"नासदासीन् नो सदासीत् तदानीं, न तत्र मृत्युर्न चामृतम्।....." सृष्टि आरम्भ होने से पहले वहाँ कुछ भी नहीं था। न सत् न असत्, न दिन न रात्रि, न मृत्यु न अमृत ही। अर्थात् शून्य था।

"Out of the emptiness the Ultimate Reality of life eminated infinite universes,"—यह Physics की भाषा है। अपने यहाँ कहा गया कि शून्य आत्मसत्ता का अन्तिम आवरण है। मौन द्वारा मनुष्य इस शून्य में स्थिर हो सकता है।

यह कितना प्रचण्ड पुरुषार्थ है ? सृष्टि के पञ्चतत्त्वों में से अन्तिम आकाशतत्त्व में आप स्थिर प्रतिष्ठित हो जाते हैं—शब्द से नाद और नाद से शून्य तक पहुँच जाते हैं। अर्थात् आत्मसत्ता से परदा केवल शून्य का ही रह गया। यह शब्दों का खेल नहीं—"जीवनशास्त्र है। आत्मा के अवतरण का मन्त्र" है। बोध में आत्मा का अवतरण होता है और जीवन जीने की कला हाथ में आ जाती है। यह यदि मौन व सत्सङ्ग में घटित न होता हो तो वह सत्सङ्ग कैसा ?

यह हमने मौन-सत्सङ्ग की आवश्यकता का दूसरा पहलू देखा, कि शब्द-अर्थ-भाव से भी काम नहीं बनता है तो शब्दों का रास्ता छोड़कर भीतर मुड़ें। शब्द से नाद, नाद से शून्य की ओर चलें। शून्य में अनन्त अक्षय ऊर्जा भरी हुई है। (An unconditional infinite energy is consealed in the emptiness.) मनुष्य ने विज्ञान द्वारा अणु एवं अणुनाभि में भरी हुई ऊर्जा को पकड़ना, काम में लगाना सीख लिया है। उसी तरह मोन एक विज्ञान है जिससे भीतर के शून्य में छिपे शब्दों से अस्पृष्ट-अजुष्ट-अदूषित अक्षय-अनन्त ऊर्जा-भाण्डार को पाया जा सकता है। उसे आत्मबल कहा गया है।

आत्मोपासना द्वारा उस आत्मबल को सामाजिक प्रेरकबल बनाना है। उसके द्वारा अन्याय-अनाचार-अधर्म-असत्य को दूर करना है। जो शस्त्रों से, पैसे से, विचारों का नशा चढ़ाने से, आदर्शों की रटन से हो नहीं पाया है, वह करना तो आवश्यक है। जिस समाज में हम रह रहे हैं, वह यदि ऐसा ही अपनी सन्तान के हाथों में दिया तो हमने जन्म लेकर किया क्या ?

अतः मौन में भी ऊर्जा की खोज है। केवल अपने भर के लिये विशेष शक्तियाँ—अनुभूतियाँ कमाने-भोगने के लिये नहीं,—ऐसी तुच्छ स्वार्थी वृत्ति पोसने के लिये अध्यात्म नहीं है। यदि कुछ आविष्कार करना ही है तो वह सम्पूर्ण मानवजाति की ओर से भावी मानवजाति के लिये अपने हाड़-मांस की, जीवन की प्रयोगशाला में करना है, जिसका सुफल दैनिक जीवन एवं मानवीय सम्बन्ध सुधारने के लिये काम में लगाया जा सके। तभी आज के जीवन में अध्यात्म की संगति एवं प्रयोजनीयता है।

समय की कमी के कारण पहले ही दिन आपको इस अननुभूतपूर्व बीहड़ रास्ते से गहरे पानी में ले जाना पड़ा; इस दुष्कर साहस के लिये आप प्रस्तुत होकर आये हैं इसके लिये सबका अभिनन्दन करती हूँ। अपनी यह ५-६ दिन की सहयात्रा सबको आनन्दप्रद होगी, चित्त व तनु के लिये स्वास्थ्यकर होगी, चिन्तनप्रवर्तक होगी—ऐसी आशा व्यक्त करती हूँ।

प्रश्नोत्तरी

दि० २५, १, ८८ (दोपहर)

आप के भेजे हुए प्रश्नों को हाथ में लेने से पहले इतनी--स्पष्टता कर दूं कि मैं जो यहाँ आकर बैठती हूँ सो किन्हीं सन्त-साधु-महात्मा या गुरु की हैसियत से नहीं। मैत्री के नाते आती हूँ। सहजिज्ञासु-सहजीवन-साधक, सहजीवनयात्री के नाते से आती हूँ। मेरा कहीं भी कभी भी यह दावा नहीं रहता कि सर्वज्ञ हूँ, या कोई उपदेश देने की पात्रता है। इस लिए प्रश्न पूछते समय ध्यान में रखें कि प्रश्न क्यों उठ रहा है? इस प्रश्न के कारण जोवन जीने में कोई अड़चन आ रही है? मन बुद्धि के किस विस्तार से प्रश्न उठ रहा है? प्रश्न क्या कहना चाहता है? यह नहीं कि आप केवल पूछने के लिए प्रश्न करें और मैं उनके उत्तर देने के लिये बोलूं। सहचिन्तन की भूमिका रहे। नहीं तो यह लगेगा कि "हम ने जो प्रश्न पूछा उसका 'हाँ'-'ना' में स्वीकारात्मक--निषेधात्मक स्पष्ट सीधा उत्तर नहीं दिया गया।" वैसे उत्तर यहाँ दिये नहीं जायेंगे। अपने अनुभव व जीवन के जो निष्कर्ष हैं उन की छाया अन्य साधकों के जीवन पर न पड़े, वे स्वतन्त्र रूप से विचार कर सकें; विचार करने में साधकों को मदद हो; कोई दृष्टिबिन्दु उठा कर, किसी गुफा का द्वार चौड़ा करने की तरह प्रश्न का अन्तर्गृह खुला करना--चिन्तन के लिये। इससे अधिक कुछ हमारे-आप के संवाद में घटित नहीं होने वाला है--यह स्पष्टीकरण मुझे करना था।

("Authenticity of life behind the word and an authoritarion attitude towards answering the question are defferent.)

शब्द-प्रयोग के पीछे जीवन की प्रामाणिक गम्भीरता एक वस्तु है और प्रश्न का उत्तर देने में अधिकारवादी या स्वयं के प्रामाण्य की स्थापक वृत्ति अलग चीज है। वह यहाँ नहीं है। जैसे ग्रन्थप्रामाण्य ने, वैसे ही व्यक्तिप्रामाण्य ने भारतीय चेतना को ग्रस रखा है। अध्यात्मसाधना को इन राहु-केतु से छुड़ाना है हमें। साथ बैठें, सत्सङ्ग करें, चर्चा करें। इस हृदय का उस हृदय में डालें--ऐसा सख्यपूर्वक आत्मनिवेदन किया जाय। इस दृष्टि से अध्यात्म जीने का प्रयत्न मैं करती आयी हूँ। उसी में आप को शामिल करने वाली हूँ।

प्रश्नः—"भीति (भय) मेरे जीवन व व्यवहार को नियन्त्रित करती है। 'किसी को क्या लगेगा ? कोई क्या सोचेगा-कहेगा ?' इसका भय रहता है। मेरे विषय की सबकी मान्यता-प्रतिमा टूट तो नहीं जायेगी ? ऐसा भय होता है। इसके लिये क्या करें ?

(और एक प्रश्नकर्ता ने पूछा—) इस शिबिर-सत्सङ्ग में हम जीवन की कोई भिन्न शैली विकसित करने वाले हों तो हमारी यह नई जीवन-शैली हमारे घर-परिवार-समाज में संघर्ष का कारण नहीं बनेगी क्या ? वह संघर्ष कैसे मिटाया जा सकेगा ? अपनी इस नई विशिष्ट शैली के कारण क्या हम समाज में अकेले नहीं पड़ जायेंगे ?

उत्तर—बड़ी मजे की बात है। हम लोग (मनुष्यजाति) अधिकतर यह माने बैठे हैं कि मनुष्य को जीना आता है। यानी जीवन जीने की कला हमें सधी हुई है। मनुष्य के नाते कैसे जीयें एवं मानवीय जीवन शैली कैसी होनी चाहिये—यह मानो हम समझ चुके हैं। क्या सचमुच हमें जीवन जीना आता है ?

We know how to fly like the birds, we know how to swim in the water like a fish, but how to live on earth like a human being we do not know.

(हम पंखियों की तरह आकाश में उड़ना जानते हैं, मछली की तरह पानी में तैरना भी जानते हैं, लेकिन मनुष्य के नाते धरती पर जीना हमें नहीं आता—यह हकीकत है।)

मानवीय जीवनशैली विकसी होती तो क्या इन पांच-हजार वर्षों में हजारों लड़ाइयाँ हुई होतीं ? इतना रक्तपात, इतनी हिंसा, इतना परस्पर शोषण—यह सब हुआ होता ? मेरा कहना है कि हमें मनुष्य की आकृति अवश्य मिली है, किन्तु मनुष्यत्व का आशय विकसित होना, मानवधर्म का जन्म होना अभी बाकी है।

आप कहेंगे—"यह कैसे कहा जा सकता है ? हमारे वेदों में उपनिषदों में, महाभारत में, गीता में, नीतिशास्त्रों में, भागवत में, १०८ पुराणों में, क्या मानव का धर्म अच्छी तरह विस्तार से विशद रूप से समझाकर नहीं कहा गया है ?"—हाँ भाई वहाँ कहा भले है लेकिन आपके-हमारे जीवन में क्या है वह देखें ! मन्दिरों में खड़ी प्रतिमाओं को और ग्रन्थजगत् को तो जीना नहीं है। जीना है हम-आपको। मनुष्याकृति प्राप्त होना और मनुष्यता का आशय इस हाड़-मांस के शरीर द्वारा

जिया जाना--ये दोनों बिल्कुल अलग चीजें हैं। भारत के सत्सङ्ग-शिबिर हों या विदेशों के मौन-ध्यानशिबिर हों, हमारा एक-ही कहना और प्रयत्न रहता है कि मनुष्य मानव बनना सीखें।

"मननात् मनुष्यः" जीवन जीते हुए प्रतिक्षण हम क्या कर रहे हैं, क्यों कर रहे हैं? इस कर्म का परिणाम हम पर व दूसरों पर क्या होने वाला है? हमारे कर्म से संवाद-निर्माण होगा या संघर्ष पैदा होगा?—यह विचार करने व देखने की जो शक्ति मनुष्य में है उसका विनियोग वह करे—यही कहना है। अतः यहाँ (इन शिबिरों में) हम कोई विशिष्ट जीवन-शैली बनाने नहीं जा रहे हैं। केवल मनुष्यता का आशय समझने व जीने की ओर अपना ध्यान रहे--इसी का प्रयत्न है।

जैसे हम दैनिक जीवन में निद्रा के लिये ६-७ घण्टे देते हैं, आजीविका-निर्वाह के लिये नौकरी-धन्धे में ७-८ घण्टे देते हैं, घर के काम के लिये समय देते हैं, उसी प्रकार शरीर को नीरोगी, सप्रमाण, सुडौल, स्वस्थ रखने के लिये कुछ समय देना चाहिये। **देह-प्रक्षालनार्थे जलम्; चित्त-प्रक्षालनार्थे मौनम्; बुद्धिप्रक्षालनार्थे ध्यानम्।** सतत संकल्प-विकल्प, विचार-विकार में सने रहते हुए चित्त को कुछ समय इन सबसे अलग निकालना जरूरी है। इसके लिये क्या २४ घण्टों में से एक-डेढ़ घण्टा भी समय हम इस तरह नहीं निकाल सकते कि उससे सम्बन्धों में कोई बवण्डर न खड़ा हो! शरीर के स्वास्थ्य के लिये मन की स्वस्थता भी आवश्यक है—यह तथ्य यदि समझ में आया हो तो आसानी से सुबह-साँझ का कुछ समय इसमें दिया ही जा सकता है; उससे परिवार-समाज में संघर्ष क्यों पैदा होगा? घर के काम का नुक्सान नहीं करना है। कुशलता से ऐसा समय निकाल लें कि जिस समय--पति, पत्नी, कन्या, भाई, बहन, माता-पिता, मित्र, सहकर्मी आदि किसी का भी आप पर हक-दावा न हो। स्वयं की भी इन भूमिकाओं में से कोई निभाने की उतने समय के लिये जिम्मेदारी न हो। निपट आपका जो अस्तित्व है, सम्बन्धों से पृथक् जो स्वयं आप हैं—"नाहं देहो नेन्द्रियाणां तरङ्गः" आपका जो निजत्व है--उसे जीने के लिये कुछ समय निकाल लिया तो कौन-सा बड़ा बवण्डर होने वाला है?

अवश्य ही वह समय निकालना आग्रहपूर्वक न हो, आक्रामक पद्धति से न हो, घर में आतंक न करें! साधना की, मौनाभ्यास की, घोषणा न करते फिरें। सहज रूप से, नम्रता से अपने लिये थोड़ा समय निकाल

कर मौन में बैठेंगे तो उससे किसी का क्या नुक्सान होने वाला है कि संघर्ष उठेगा ? हाँ, अपनी इस जरूरत या समझ को परिवार में अन्यों पर लादें नहीं कि "सब लोग बैठो ! सबको मौन में बैठना ही चाहिये ! मैं यह सुनकर आया हूँ, मैं कहता हूँ तो घर में सबको वह करना ही चाहिये।....." सत्य कभी लादने से संक्रान्त नहीं होता। हम स्वयं यदि सत्याचरण करते रहें तो उसमें अन्तर्निहित शक्ति अपने आप संक्रान्त होती है, वह करनी नहीं पड़ती।

इसलिये, इस शिविर के परिणामस्वरूप यदि कोई ,जीवनशैली विकसित हुई एवं समझसहित सहजरूप में आपके जीवन में वह स्थिर हो पाई तो उससे किसी का कोई नुक्सान होगा—ऐसा मुझे नहीं लगता। आग्रह-आवेश-अभिनिवेश न हो, दूसरों पर लादें नहीं—यही तो जीने की खूबी है। उसे नियोजित करने न जायें। स्वयं करते रहें; यदि किसी को इच्छा हो उसमें शामिल होने को, तो उसका स्वागत रहे।

"पर दूसरे वह नहीं करने वाले हैं तो क्या हम अकेले करें ? अकेले तो नहीं पड़ जायेंगे ? अरे भाई, आपका जीवन तो आपको अकेले ही जीना है न ! अकेले ही जन्म लिया और समय आने पर अकेले ही इसमें से निकलकर चले भी जायेंगे न !

"भार्या गृहद्वारे, मित्रं श्मशाने, देहश्चितायाम्" तभी तक संसार का साथ है जब तक देह में प्राण एवं चेतना बनी हुई है। मृत्यु की घटना में से हमें अकेले हो गुजरना होता है। हर्ष-शोक के अनुभव में से भी गुजरना अकेले ही होता है, भले-ही उस अनुभव को आप दूसरों के सामने बोलकर व्यक्त करें, पर हर्ष-शोक को भोगना तो अकेले खुद को ही होता है।

फिर इस एकाकीपन से हम घबराते क्यों हैं भला ? अकेले होने पर भी जीवन से अलग तो नहीं हैं ! मछली पानी में उत्पन्न होती है, पानी में ही जीती है और उसकी आयु पूरी होने पर पानी में ही वह देह विसर्जित हो जाती है। वैसे अपने आस-पास सर्वत्र जीवन-ही जीवन नहीं है क्या ? हम अपने ही बनाये भावनाओं के घेरे में, विचार-विकार-वासनाओं में इतने उलझे रहते हैं कि खिड़की में से झाँककर भीतर आती सूर्यकिरणों का 'साथ' हम महसूस नहीं कर पाते। ये सूर्यरश्मियाँ जो जीवन देती हैं, ऊष्मा और प्रकाश देती हैं उनमें साथीपन का अहसास होता है किसी को ? वनस्पति, आकाश, पवन, चाँद-तारे, पृथ्वी, सरि-

तारे-सागर, मेघ, पशु-पक्षी—इन सबके 'साथ' का अहसास होता है क्या हमें ?

हमारी संवेदनशीलता इतनी संकुचित हो गई है कि अपने इकट्ठे किए हुए परिग्रह का—वस्तुओं-व्यक्तियों का, पशु-पक्षी का, खुद बाँधे हुए नातों-रिश्तों का—साथ तो महसूस होता है। पर पूरे विश्व के साथ अपना जो सम्बन्ध है, जो नाता है, उसका 'साथ' अनुभव नहीं कर पाते—यह दुर्भाग्य है। इस विराट्-विशाल ब्रह्माण्ड का एक अंश (ही क्यों—इसकी लघु प्रतिकृति) हम हैं। An individual is a condensed cosmos. जो पिण्ड में हैं वह ब्रह्माण्ड में है; जो ब्रह्माण्ड में है वह पिण्ड में भी है। तो, हम अकेले कैसे ?

इस अकेलेपन के अहसास का कारण है हमारी निष्क्रियता—अकर्मण्यता, जीने के कर्म के प्रति अनुत्साह ! यह तथ्य पहचान लेना चाहिये। हम 'जमात' के पीछे भेड़ियाधसान चलते हैं। समाज में जो रूढ़ियाँ, रीति-रिवाज, परम्परायें हैं, उनके पीछे-पीछे हम चल रहे हैं। हमारा जीवन अनिवार्य आवश्यकताओं के प्रति प्रतिक्रिया-मात्र है। यह वस्तुतः जीवन नहीं, पर हम इसे ही जीना कहते हैं। परिस्थिति के अङ्कुश-दबाव-तनाव के चाबुक से प्रेरित होने पर ही हम चलते हैं—यानी एक के बाद दूसरी प्रतिक्रिया करते रहते हैं। विद्यालय जाना है, नौकरी-धन्धे की जगह पर पहुँचना है, उसके लिये तैयार होकर अमुक समय तक निकलना जरूरी है, इसलिये ६ बजे जबर्दस्ती बिस्तर में से उठेंगे। यदि छुट्टी का दिन है तो नहीं उठेंगे, पड़े रहेंगे बिस्तर में चाहे जब तक ! निद्रा पूरी हुई—उठकर नित्यकर्म में लगना भी हमारी सहज स्वायत्त क्रिया—(First hand spontaneous action) नहीं हो पाती। हमारा जीवन बासी, पुराना, परायत्त-परावलम्बित, प्रतिक्रियाओं की शृङ्खलामात्र रह गया है। (Our life is secon dhand. It is merely a chain of reactions.)

इसलिये, "कोई करता है इसलिये हम करते हैं, या किन्हीं से करवाना है, हमारी जिम्मेवारी है—इसलिये हम करते हैं।" पर "स्वान्तः सुखाय" कुछ नहीं करते। भाई ! दूसरों के साथ जीते हों पर जीते तो हम हैं न ! हमारा उठना-बैठना-सोना-चलना हमारा अपना होना चाहिये। वह नहीं होता। इसीलिये यह विचार आता है, भय होता है कि "दूसरे लोग यदि नियमित जल्दी उठते न हों, प्रार्थना में, मौन में बैठते न हों

तो हम कैसे बैठेंगे ?" यदि हमें समझ में आया हो कि यह उचित है, करने योग्य है, स्वास्थ्यकर है, तो फिर दूसरे करें या न करें, किसी का साथ हो या न हो, हम तो करेंगे।

"कोई करे निन्दा, कोई करे वन्दन !
स्वहित का धन्धा करें हम निसदिन !"

ऐसा स्वहित का धन्धा तुकाराम, वेणुबाई सखुबाई, जनाबाई, गोरा कुम्हार आदि कर सके ! किसका साथ ढूँढा था उन्होंने ?

जो कर्म सर्वथा उचित व हितकर है, जो भी करे उस का हित ही होगा, वह कर्म करने में हम तो लगें ! दूसरे साथ आते हैं या नहीं इसकी फिक्र क्यों ? बच्चे खेलते हैं अपने आनन्द के लिये। माँ को बुलाने जाना पड़ता है कि "भोजन करने चल ! समय हो गया।" कोई गाने बैठता है, घण्टों गाता है—आनन्द से। वैसे ही आनन्द के लिये जीवन जीना क्यों नहीं होता ? जीने के कर्म में आनन्द आना चाहिये। (The act of living is its own fulfilment.)

पर यह तो पागल समाज है। कोई उन्माद या नशा हुए बिना यहाँ किसी से जिया नहीं जाता। इस उन्मत्त समाज में अपने होश ठिकाने रखने हों तो जीने के कर्म में आनन्द अनुभव करना ही एकमात्र चाबी या उपाय है।

हाँ वह जीनेका कर्म यान्त्रिक न हो, प्रतिक्रियात्मक न हो, केवल रूढ़िप्राप्त या परम्परागत न हो। जो भी करें वह समझ-बूझ कर किया जाय।

"समझे बिना मत गर्दन हिलाओ रे !
अनुभव बिना मत पलकें गिराओ रे !"

आप करके तो देखिये ! जो समझ में आया है वह निरपेक्ष भाव से करने में कैसी शान्ति मिलती है ! कैसा आनन्द आता है ! अपनी उस शान्ति का, चित्त के समाधान (चैन-सुकून) का वातावरण पर प्रभाव होता है अवश्य।

किसी ने पूछा है--"मुझे जीने में भय होता है। कोई क्या कहेगा ? क्या सोचेगा ? किसी को कैसा लगेगा ?—इसका डर लगता है।"

प्रश्नकर्त्ता को और हम सबको विचार करना चाहिये कि यह भय कहीं रुग्णता की निशानी या बीमारी का लक्षण तो नहीं है ? इस भय को समझने के लिये कहाँ तक उस भय के पीछे-पीछे भीतर जाना होगा ?

यदि शरीर संरचना व उत्पत्ति की दृष्टि से देखने चलें तो गर्भाधान के क्षण तक का इतिहास देखना होगा। (The quality of consciousness is determined to a very great extent in the moment of conception.) भावी शिशु की चेतना की गुणवत्ता बहुत कुछ उस प्रथम क्षण में ही निर्धारित हो जाती है। यदि उस क्षण में स्त्री भयभीत रही हो! पुरुष चिढ़ा हुआ हो, क्रोध में हो। दोनों में से किसी के चित्त में कोई उद्वेग या खुन्नस उठी हो। कोई पाशविक वृत्ति जोर मार रही हो। तो गर्भ में आने वाले बालक में भय-व्याधि जन्म से ही साथ आता है। यदि सगर्भावस्था में स्त्री को परिवार वालों ने बहुत कष्ट दिया हो, आतंकित किया हो, उसके मन पर दबाव डाला हो; उपेक्षा हुई हो; तो भी गर्भस्थ शिशु पर उस सबका परिणाम होता है; और जन्म लेने पर आरम्भ में ही वह बालक हरेक हलचल भयभीत-सा किया करेगा। सोते हुए चौंकना, खाने-पीने, उठने-बैठने-चलने-बोलने से पहले पक्षियों व गिलहरी की तरह चारों तरफ देखना, चौंक-चौंक कर कुछ भी करना बचपन से हो उस बालक में रहेगा।

मनोविज्ञान इस सब विस्तार में उतरता है। जन्म स्वाभाविक होने पर भी यदि माता-पिता, घर के बड़े लोग, विद्यालय में शिक्षक डराने-धमकाने-दबाने वाले, अतिशय क्रोधी स्वभाव के हों तो भी बालक डरपोक होता जायेगा। बालक के जीवन में पहले सात वर्षों के वातावरण एवं परिस्थिति का बहुत परिणाम होता है। ऐसी Pathological fear-obsessed (भयग्रस्तता की बीमारी वाली) दशा हो तो उसकी चिकित्सा करानी होगी। वह आयुर्वेद से करें, एलोपेथी से करें, मनोवैज्ञानिकी उपाय करें। जिस किसी भी कारण से मस्तिष्क में कोई विकार-असन्तुलन आ गया हो तो ठीक करना होगा।

मान लीजिये कि ऐसी कोई रोग की दशा नहीं है। तो स्वयं ही बैठ कर अपने भीतर विश्लेषण कीजिये कि भय क्यों लगता है? कोई क्या कहेगा इसकी मुझे इतनी चिन्ता क्यों है? मान लो हमारा किया हुआ कार्य किसी को पसन्द नहीं आया। किसी ने उसकी परवाह नहीं की, किसी ने प्रशंसा नहीं की, शाबाशी नहीं दी, कोई कदर नहीं की। पर मुझे तो वह अच्छा लगा न! करने योग्य लगा था न! किसी को नहीं पसन्द आया तो न सही! अरे, किसी ने मुँह बिचकाया या बुरा कहा तो भी तुम्हारा क्या बिगड़ा? हमें अपनी बुद्धि पर, चित्त पर, भरोसा न हो तभी दूसरों का भय लगता है—यह मेरा कहना है। अतः हम

आत्मविश्वास विकसित करें। हमें जो उचित लगता हो वह करें, हो सकता है बाद में औरों के ध्यान में आये भी, कि हमने जो किया था वह सही था। कभी कोई भूल हो जाय तो उससे घबरायें नहीं। भूल हुई, ठोकर खायी, तो उससे बिगड़ा क्या? जो रास्ता चलता है वही ठोकर खायेगा न! भूल होने के भय से जो हाथ-पाँव समेटे बैठा रहेगा वह जी नहीं सकता।

इसलिये दूसरों को हमारे लिये क्या प्रतिमा बनती है—इसकी चिन्ता करने के बदले मैं स्वयं के प्रति प्रामाणिक हूँ या नहीं?--इसका विचार करना चाहिये। मैं जो कुछ करता हूँ उससे स्वयं को परितृप्ति (A sense of fulfilment) मिलती है या नहीं? सन्तोष होता है या नहीं?--यह देखना चाहिये। आसपास के लोग तो अलग-अलग तरह की प्रतिमायें बनाया करेंगे। माँ एक तरह की, भाई दूसरी तरह की, पत्नी तीसरी तरह की, मित्र चौथे प्रकार की! क्या आप सबको सन्तुष्ट कर सकेंगे कभी? एक ही प्रतिमा सबके चित्त में कैसे बना सकेंगे? फिर क्यों इतनी परवाह रखना!

मेरे देखे जीवन जीने का राजमार्ग यह है कि स्वयं अपने मन में भी अपनी कोई प्रतिमा न रखना, और दूसरों के चित्त में बनी प्रतिमाओं से हम खुश न हों, निराश या दुःखी भी न हों।""हम अब तक करते यही आये हैं। प्रतिमा बनाना बड़ा भारी धन्धा है मन का। अपनी व दूसरों की प्रतिमायें बनाते हैं, दूसरों द्वारा बनायी हुई प्रतिमायें उधार ले लेते हैं, इन अनगिनत प्रतिमाओं का टोकरा सिर पर लिये घूमते हैं, फिर जिसे जो प्रतिमा रुचेगी ऐसा मानते हैं, उसके सामने वही धरते रहते हैं। ऐसे मुखौटे बदलने के चक्कर में सचमुच जीने की फुर्सत ही नहीं हमें। उन प्रतिमाओं के पीछे छिपे रहते हैं हम। प्रतिमाओं का ही व्यापार-विनिमय चलता है। और दूध की झाग पी कर जैसे भूख-प्यास नहीं मिटती, वैसे प्रतिमाओं के परस्पर विनिमय से जीवन में शान्ति या सन्तोष मिल नहीं पाता।

हम प्रतिमा बनाते क्यों हैं? उसके बिना जिया जा सकता है या नहीं? यह सोचें। दूसरों द्वारा बनायी गई प्रतिमाओं को परवाह तो न ही करें, पर स्वयं भी अपनी प्रतिमा न बनायें। आपने ग्रन्थ पढ़े, व्याख्यान सुने, ज्ञान हुआ, तो अच्छा है। पर उसे ले कर "मैं ज्ञानी हूँ"–ऐसी प्रतिमा क्यों खड़ी करना। आप को सदाचार में आनन्द आता है,

तो सदाचार करें, सौजन्य से रहें; पर "मैं सज्जन हूँ"—ऐसा निष्कर्ष निकाल कर उसमें से एक प्रतिमा क्यों खड़ी करना ? खूब धन सम्पत्ति है आपके पास, तो अच्छा है, आनन्द लें और दें सबको। पर "मैं धनी हूँ।" इस प्रतिमा का बोझ क्यों लादें अपने ऊपर ! "मैं धनी, मैं विद्वान्, मैं धार्मिक हूँ, पण्डित हूँ" इत्यादि से फूले रहेंगे, तो जिन्हें आप से ईर्ष्या है या जिनका स्वभाव छिद्रान्वेषण करने का है—वे आपकी प्रतिमायें तोड़ेंगे, खण्डित करने में उन्हें मज़ा आता है। बहुतों का स्वभाव होता है आते जाते किसी को कुछ न कुछ चुभोते रहने का।......"Let the knowledge flow through you without creating an image of being learned, scholar or an expert. Let the experiences occur in your body without creating an image of an experiencer."

यह अध्यात्म जीना होता है। सन्तों के चित्त में अपनी मूर्तियाँ नहीं होतीं। इसीलिये वे सरलता से जो सकते हैं बालसुलभ, निरागस, निष्कपट, निश्छल।

अपनी हालत यह है कि दूसरों ने यदि हमारी बात नहीं समझी, हमारे कार्य को दाद नहीं दी, हमारी परवाह नहीं की तो "हम अकेले रह जाते हैं" "कोई क्या कहेगा ?" यह तो भीति का बड़ा स्थूल स्वरूप हैं। उसका मूल कहाँ है यह देखिये ! मूल तो यह है कि जीवन जीने से ही डरते हैं। कहते हैं कि हमें 'मरने का डर है' पर असल में तो जीने से डरते हैं। प्रीति है धन में, ऐश्वर्य में, सुखसुविधा में, प्रीति है यश-प्रतिष्ठा में। जीवन से प्रेम नहीं सिखाया जाता है। बचपन से संस्कार नहीं दिये जाते कि "जीवन पवित्र है। जीने का कर्म पूजा के सदृश है, यही साधना है। जीने के कर्म से अलग कोई साधना नहीं। इसलिये तुम्हारे कर्म अवधानयुक्त हों, कुशलता से हों, सुन्दर हों, प्रामाणिक हों। यही भगवान् की, विश्वात्मा की पूजा है !"—यह नहीं कहा जाता। इसी कारण जीने के कर्म की उपेक्षा होती है। "सुबह से रात तक जीने के कर्मों में मेरे चित्त की स्थिति क्या रहती है ? क्या दशा है ? सुख-दुःख में से गुजरते समय भीतर क्या होता है ?"—यह देखने की ओर ध्यान नहीं रहता। इतना बहिर्मुखी, इतना स्थूल वर्तन है हमारा।

इसलिये प्रश्नकर्ता स्वयं से पूछें कि जीवन जीना चाहते हैं या नहीं ? किसी में, कहीं भी चित्त चिपके नहीं, आसक्ति न हो, वितृष्णा भी न

हो। कहीं से भागें नहीं, किसी के पोछे न पड़ें। जीवन जो भी सामने लाये उसे आंखभर देखना है--बड़ी चुनौतियां हों, संकट हों, सुख हो, दुःख हो, वियोग हो, मिलन हो ! जन्म हो, मरण हो !—जो भी आयें उसे खुले दिल से भेंटना है और उसमें से आगे निकल जाना है। केवल जीवन से प्रेम ही भय-निराकरण का, भीति-मुक्ति का मार्ग है।

Love of life & love of living—without getting stuck up in pleasure or pain & sorrow or joy, you walk through the corridors of duality.

द्वैत-द्वन्द्व के पसारे में से मनुष्य बड़ी शान से गुजरता चला जाता है। जन्म के बिन्दु से प्रारम्भ किया है, मृत्यु के बिन्दु तक जाना है उसे। मृत्यु अटल है यह हम देखते हैं फिर दूसरों की प्रतिक्रियाओं का विचार ही हमें क्यों आता है ?

अब इसी स्थिति का और एक पहलू देख लें। यह प्रश्न आज भारत का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। ८० करोड़ जनसंख्या वाला यह देश आज कायरों का, पाखण्डियों का देश बन गया। केवल भीरुता-कायरता के कारण सौजन्य का, सत्य का, नैतिक मानवीय मूल्यों का मार्ग छोड़कर प्रवाहपतित की तरह जी रहे हैं लोग। जो कर रहे है वह रुचता नहीं, भीतर चुभता है, फिर भी वही करते जाते हैं, केवल भय के कारण ! कहलाता है यह धार्मिक-अध्यात्मप्रवण देश। किन्तु जीवन की वास्तविकता कहें तो यह अधर्मी-पाखण्डी देश हो गया। इसमें से बाहर निकलें। कम से कम यहाँ का युवक वर्ग तो इस पाखण्ड में से बाहर निकलें ! मुझे बड़ी चिन्ता है। मैं जो जीवन-परिवर्तन की, आध्यात्मिक क्रान्ति की, चेतनापरिवर्तन व समाजपरिवर्तन की भाषा बोलती हूँ उसके पीछे एक ही चिन्ता है कि जैसा उज्ज्वल यहाँ का इतिहास था, अतीत था, उस उज्ज्वल सांस्कृतिक विरासत को जीवन में जीने वाले भारतीय का जन्म हो।

इस प्रश्न का और एक पहलू देखें--कहीं अपना अहंकार ही तो भीति का रूप लेकर अपने सामने नहीं खड़ा होता है ? हमने मनमें कुछ आदर्श गढ़ लिया हो कि मेरे जीवन में, मेरे परिवार में यही-इसी तरह से होना चाहिये। इसी पद्धति से मेरे बेटों-बहुओं-लड़कियों-नातों-पोतों आदि को चलना चाहिये !"—ऐसे केवल मनोरथ ही नहीं, पक्का ग्रह बांध रखा हो,— उसका आग्रह हो हमारे चित्त में (Crystalised prejudices &

preferences). तो हमें भय लगता है कि मैं जो करूँगा उसका ऐसा परिणाम तो नहीं आयेगा कि मुझे जो चाहिये उससे उलटा ही घटित हो जाये ?" अहंकार को जो चाहिये वह सुनिश्चित अवश्य होने का आश्वासन-गारण्टी (assurance) पाये बिना वह एक कदम भी आगे बढ़ाने को राजी नहीं होता। यह वस्तुतः भय नहीं है—अहंकार की कट्टर हठधर्मिता है। (This is the insistent dogmatism of the ego, which closes itself in the form of fear). अपना अन्तस् टटोल देखना चाहिये कि क्या चित्त में ऐसे आग्रह पड़े हैं ? इसीलिये तो मैं नहीं कहता कि लोग क्या कहेंगे इसका भय लगता है ?"

प्रश्न—किसी ने पूछा है कि "मैं ध्यान में बैठता हूँ तो एक बार में एक घण्टे से अधिक नहीं बैठा जाता। दिन में तीन-चार बार एक-एक घण्टा बैठता हूँ, पर एक साथ अधिक समय नहीं बैठा जाता। ऐसा क्यों होता है ? मेरी इच्छा है कि अधिक बैठूँ, फिर भी नहीं बैठा जाता।"

प्रश्न का दूसरा अंग है कि—"इस प्रकार ध्यान में बैठने पर कब ध्यान से सरक कर धारणा की अवस्था में पहुँच जाता हूँ—यह पता नहीं चलता। यह एक कठिनाई है कि बैठता हूँ ध्यान के लिये, और अवस्था आ जाती है धारणा की। (ध्यान—Meditation, धारणा—Concentration.)

ध्यान एक अवस्था है, चेतना का एक आयाम है वह। सुबह हमने देखा था कि मौन में ऐसी एक शून्यावस्था आती है कि वहाँ कोई भी विचार-विकार, संकल्प-विकल्प, जो भी शब्दों का पसारा है वह कुछ भी शेष नहीं रहता। द्रष्टृत्व के बाद आता है यह शून्य, या मौन और इसके बाद है ध्यान। धारणा क्या है ? धृति का अभ्यास। अपने यहाँ अनेक शास्त्रों में धारणा का विवेचन है, अष्टाङ्ग योग में ध्यान से पहली सीढ़ी धारणा है। अनेक प्रकार से धारणा का अभ्यास उपयोगी एवं आवश्यक भी है।

""छुटपन में धारणा का एकाग्रता का अभ्यास कराया जाय तो बहुत अच्छा होता है, उसमें हम क्या करते हैं ? चित्त को एक विषय देते हैं। इसे एक विषय से दूसरे पर कूदते रहने की आदत पड़ी है। इस क्षण महाबलेश्वर में है तो दूसरे क्षण पूना या बम्बई पहुँच गया है। इस मन को कोई न कोई विषय चाहिये। विषय से सम्बन्ध बाँधना

चाहिये फिर उस विषय को पुनरावृत्ति की क्रिया चाहिये। उस क्रिया-प्रक्रिया से होने वाली सुख-संवेदना भी चाहिये। संवेदना चित्त का आहार है। वह सुख की हो या दुःख को। उत्तजना हो या विषाद, कुछ भी चाहिये जरूर। चित्त-विषय-सम्बन्ध, प्रक्रिया, और उससे होने वाली संवेदना। इसी पर हम जीते और पोषण पाते हैं। इसके परे जाकर गहराई में उतर कर हम जीते नहीं। अपनी सतह पर ही जीने में मशगूल रहते हैं। तरह-तरह को संवेदना, इच्छा, आकांक्षा, कल्पना दिन भर इन्हीं में चक्कर काटते रहते हैं।

धारणा में चित्त को यह छलांगें लगाते रहने की आदत को रोक कर एक ही विषय पर एकाग्र होने का अभ्यास कराया जाता है। तब चित्त कहता है "ठीक है, कोई बात नहीं; कुण्डलिनी जगाने के लिये, अन्य अतीन्द्रिय शक्तियां जगाने या अतीन्द्रिय अनुभूतियां प्राप्त करने के लिये चलो एक ही विषय पर स्थिर होकर बैठ लूंगा, कुछ समय इधर-उधर मेंढ़क-कूद नहीं करूँगा।" कोई ज्योति हो, यन्त्रादि आकार हो, इष्टदेव या गुरुदेव की मूर्ति या छबि हो, उस पर दृष्टि से तदात्मता अथवा मन्त्रजप द्वारा नाद से तदात्मता साधी जाती है।

Identification with an object—ऐसे अनेकाग्र चित्त को एकाग्र करना, चञ्चल को स्थिर करना--यह धारणा का विषय है। अनेक-मुखी उन्मेषों को एकमुखी बनाया जाता है। इससे सचमुच ही बहुत सी शक्तियाँ जागृत होती हैं।

जिन्होंने त्राटक का अभ्यास किया हो—वे धारणा का अभ्यास आसानी से कर सकते हैं। विषयान्तर की आशा में चित्त इसके लिये मान जाता है। किन्तु ध्यान के अभ्यास में चित्त को किसी भी विषय का आधार नहीं मिलता। किसी विषय से किसी भी तरह का सम्बन्ध नहीं। निर्विकार, निर्विचार, निर्विषय चित्त की अवस्था चाहिये वहाँ। और, जैसा कि सुबह कहा था चित्त को तो आदत पड़ी है इन्द्रियों द्वारा विषयों से सम्बन्ध बांधते रहने की। इस आदत के कारण निर्विषय अवस्था, शून्य अवस्था अधिक समय तक मन से और शरीर से धारण नहीं हो पाती।

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'। क्योंकि उस निर्विषय अवस्था में अत्यन्त उत्कटता रहती है। विषय-सम्बन्ध के समय तो विषय और विषयी—ऐसा भेद रहता है, शक्ति दो में बँटी रहती है। जहाँ 'अस्मद्-

युष्मद्' में 'अहम्-इदम्' में जीवनसत्ता का विभाजन होता है वहाँ उत्कटता कम रहती है। अखण्डता-एकता, सघन-अविभाजित अवस्था में उत्कटता अधिक रहती है। खण्डित होने पर उसकी तीव्रता घट जाती है। अपने शरीर को उस विभाजित अवस्था की ही आदत होने के कारण निर्विषय अवस्था की उत्कटता-गहनता-सघनता सहन नहीं होती। किसी की वह अवस्था दो-पाँच मिनिट टिकती है, किसी की दस-पन्द्रह मिनिट, किसी की आध-पौन घण्टा। मेरा कहना यही है कि इसे संकट न मानें। यह तो निरी शारीरिक क्षमता की बात है। अधिक समय का आग्रह हो तो अभ्यास करके उसे बढ़ाया अवश्य जा सकता है।

किन्तु ध्यान में से सरक कर धारणा की अवस्था में क्यों पहुँच जाते हैं—इसे समझ लेना चाहिए। हजारों नहीं, लाखों वर्षों से मनुष्यजाति ऐसे ही जीती आयी है। जागृति का जितना समय हो उसमें कर्ता-कर्म-सम्बन्ध, भोक्ता-भोग्य-सम्बन्ध ज्ञाता-ज्ञेय-सम्बन्ध—ऐसे सम्बन्धों में विभाजित चेतनास्तर पर ही हम जीते आये हैं। अविभाजित अखण्ड चैतन्यसत्ता के स्तर पर कभी जिये नहीं, वह हमारी जीवनपद्धति नहीं रही। लाखों वर्ष ऐसे ही गये हैं। Our very perception is born out of fragmentation of life into the–"me & not me", "The I & the other." अभी कुछ ही समय पहले से, मान लीजिये कि २०-२५ वर्षों से भी, अविभाजित चेतना में जाने का अभ्यास शुरू किया हो तो उन लाखों वर्षों के सामने ये २०-२५ वर्ष भला किस गिनती में हैं? यह तो एक नया प्रवाह उत्पन्न करने जा रहे हैं हम! या तो प्रवाह के विपरीत दिशा में तैरने का अभ्यास है यह! (We are trying to swim against the stream or the current) चित्त को निर्विकार-निर्विचार-निर्विषय-निस्पन्द अवस्था में लेजाना है। दिन रात गति-गति-गति! मन-शरीर-बुद्धि की क्रिया-प्रतिक्रियाओं को, विचार विकारों को, केवल गति ही करते आये हैं,। अब जा रहे हैं गतिशून्य अवस्था को ओर ध्यानावस्था में। वह एक दम तो नहीं सुधरेगी न! इसलिये मन यदि ध्यान से च्युत होकर फिसल कर बार-बार धारणा में चला आता हो तो इसे संकट न मानें; जीवन का एक तथ्य है वह। उसकी उपेक्षा भी न करें, समस्या भी न बनायें। "सवाल" "समस्या" "संकट" शब्दों से ऐसा लगने लगता है मानो कोई बहुत बड़ी शिला रास्ता रोके हुए है उसे कैसे हटाया जाय। शब्दों का बड़ा भार पड़ता है चेतना पर, नाड़ी-तन्त्र एवं रसायन-तन्त्र पर; इसीलिये तो शब्द को शब्दबन्ध भी कहते हैं।

अतः तथ्य को, घटना को पहचानें। और धारणा-स्तर पर चित्त उतर आता होतो उस क्षण आसन छोड़कर उठें, ५-१० मिनट उस कमरे या छत या बगीचे में (जहाँ ध्यान के लिए बैठे हों वहाँ एकान्त में ही) घूमते रहें। इससे धारणा-रूप या जो कोई गति भीतर उठी होगी—वह शान्त हो जायगी, कुछ मिनिट उसे शान्त होने का अवकाश दीजिये। फिर वापस आसन पर बैठ जायें।

ध्यान नाम की यह जो अवस्था या आयाम है, इसमें यदि हम दिन भर में चार-पाँच बार एक-एक घण्टा बैठ सकते हों यानी वह अवस्था उतना समय टिकती हो तो उसे और बढ़ाने का आग्रह क्यों रहे ? ध्यान कोई करने की क्रिया तो है नहीं, ध्यान-आयाम में जीना होने लगे उस के लिये अभ्यास-स्वशिक्षण का अवसर है यह बैठना। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों में उस ध्यानावस्था में जीना अपेक्षित है। वह कर्म नहीं है। उसमें समय का आग्रह किस लिये ? आप ही कहें कि "समय" की अपनी की कोई सत्ता है क्या ? जीवन में ये 'एक घण्टा-दो घण्टे' आदि नापों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व तो नहीं। पृथ्वी-आकाश-सागर-अग्नि-वायु जैसा कोई तत्त्व तो नहीं समय या घड़ी। यह तो मनुष्य ने व्यवहार की सुविधा के लिये विभाजन बना लिये हैं—२४ घण्टों का दिन-रात, प्रकाश हो तो दिन, अन्धेरा हो तो रात। ये संज्ञायें तो हमारी बनायी हुई हैं। जीवन में काल की सत्ता नहीं। वह काल-मुक्त है।

(Life is an eternal isness, undivided in your psychological meaurements of hours, days & months, years, centuries.) जीवन में कोई दिन-रात-सप्ताह-मास-वर्ष-शताब्दी आदि नाप नहीं। इसलिये वह जो ध्यानाभ्यास के समय को हम घण्टों से नापते है उससे परे, अध्यात्म की दृष्टि से उस नाप का कोई मूल्य है क्या ? यह भी तो हो सकता है कि २४ घण्टों का सत्त्व उस एक घण्टे में ही उतर आया हो। अतः घण्टों की गिनती का साधक के जीवन में महत्त्व क्यों हो ?

(Every moment, as you call it a moment, is condensed eternity) प्रत्येक क्षण सघन शाश्वती हैं। आप जिसे 'क्षण' कहते हैं उस क्षण के अवगुण्ठन में जीवन की अनन्तता ही विराजमान है। हम अनन्तता को आश्लेष में, आलिगंन में, नहीं ले पाते, इसलिये यह मानसिक बौद्धिक कैंची चला कर उसे टुकड़ों में बाँटते हैं। जीवन में वस्तुतः ऐसे विभाग नहीं हैं। वह तो अखण्ड-अविभाज्य-एकरस सत्ता है।

घण्टों के नाप से समय की व्यवस्था किसे करनी पड़ेगी ? १६-१८ वर्ष का तरुण है, उसे इस मार्ग पर चलना है, तो समय की नियमित व्यवस्था बना लेनी होगी। आसन-प्राणायाम को निश्चित समय देना होगा। एक आसन पर कम से कम २ मिनिट रह सकता है या नहीं देख लेना होगा। फिर आसन-सिद्धि की शक्ति बढ़ाते चलना होगा—एक घण्टे से आठ-दस घण्टे तक। उसे नाप से काम लेना होगा। वह यदि चाहता हो कि ध्यानावस्था २४ घण्टे बनी रहे, सत्य-प्रभु के लिये जीवन-समर्पण करना चाहता हो 'व्यक्ति रूप से शेष नहीं रहना है, आत्मविलोपन योग साधना है,' यह चाहता हो तो मैं पूछूंगी कि कितने घण्टे बैठ सके ?···· क्योंकि उसका अभ्यास करना है। किन्तु जो लोग जीवन में इस दिशा में कुछ कदम चल चुके हैं, सन्तों का सत्सङ्ग पाया है, शास्त्रों द्वारा जीवन-सत्ता का स्वरूप कम से कम शब्दों से जाना है–उन्हें कहूँगी कि समयावधि का आग्रह छोड़ दें। यदि एक घण्टा उन की वह शान्तदशा गतिशून्य स्थिति टिकती हो तो एक-एक घण्टा दिन भर में चार-छह बार बैठें। पर तब भी हाथ में या सामने घड़ी न रखें। उस अवस्था में जाना और फिर विभाजित चेतना में लौटना—यह जो आवागमन है यह जब तक समाप्त नहीं होता तब तक यही क्रम चलेगा। यहाँ तक मनुष्य जा सकता है।

"जानता भी अनजान बना दो मेरा मन।
तुम्हारा प्रेमरस पिला कर इसे !'

"यस्यामतं तस्य मतं यस्तु वेद न वेद सः" जानने वाला ही जहाँ शेष न रहे वहाँ पहुँचना है। वैसे काल के नाप-तौल मनुष्य के मन-मस्तिष्क में हैं, वे नाप-तौल और उन से नापने वाला मन ही विलीन हो जाय वहाँ प्रतिष्ठित होना है।

अवश्य ही—(This is a lovely world of concepts & ideas, the concept of psychological time & measures. They have a beauty of their own) इन मानसिक बौद्धिक धारणाओं–मान्यताओं-संकेतों-प्रतीकों से भरा यह मनुष्य-निर्मित जगत् सुन्दर है, सब प्रतीकों का अपना अनोखा सौन्दर्य है। पर इन की सत्ता काल्पनिक है, तथ्य नहीं। पदार्थों के जितनी सत्ता भी काल के मापदण्डों की नहीं है। हमारे मस्तिष्क के बाहर काल के नापों का अस्तित्व नहीं है। इसलिये जीवन सत्ता को कालातीत–"कालस्य कारणम्" कहते हैं।

अध्यात्म का अर्थ है मानवरचित सृष्टि के पीछे, अधिष्ठान में स्थित परमसत्ता से अनुसन्धान साधे रखते हुए इन मानव-रचित प्रतीकों का उपयोग, कल्पनाओं का विनियोग करना। कालातीत अनन्त सत्ता का भान रखते हुए घड़ी का उपयोग करना। अनन्त सत्ता से सतत अनुसंधान बना रहे और इन्द्रियस्तर पर क्षण-क्षण के साथ नियत कार्यकलाप चलते रहें।

प्रश्न-कर्ता ने बहुत सत्सङ्ग किया हुआ है ऐसा उनके प्रश्न से दिखाई देता है, इसलिये उन्हें इस नापतौल के कारागार में रहने की कोई आवश्यकता मुझे प्रतीत नहीं होती।

प्रश्न–आत्मानुभूति के लिये क्या "मौन" ही एकमात्र साधन है? यदि ऐसा हो तो श्री ज्ञानेश्वर, ठाकुर रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द आदि ने जो किया वह सही नहीं था?

यह मौन सत्संग शिविर है इसलिये हम 'मौन' की महिमा देख रहे थे, स्वरूप और आवश्यकता समझ रहे थे। इसका यह अर्थ तो नहीं कि कोई भजन-पूजन न करे, जप न करे। भगवत्सत्ता के साथ सम्पर्क-बिन्दु प्रत्येक का अलग होता है। आपका जो सम्पर्कबिन्दु हो वहीं से ही प्रारम्भ करें, वहीं से चलें। फिर जप में भी आप क्या करने वाले हैं? "तज्जपस्तदर्थभावनम्' यदि अर्थभावन न होता हो तो जप भी यान्त्रिक क्रिया ही हो जायेगी। किसी कैसेट् पर मन्त्र व भजन ध्वन्यङ्कित करलें और उसे बार-बार बजायें, तो उससे उस कैसेट् को या मशीन को कोई लाभ होगा क्या? वैसे हमारी जिह्वा व मस्तिष्क में यन्त्रवत् जप चलता हो तो उससे क्या लाभ होगा? उसके साथ अर्थ की जागृति रहे तो उसमें से भाव नाम का एक सूक्ष्म द्रव्य पैदा होता है, भावकाया का सर्जन होता है, वह विचार-काया से भी अधिक सूक्ष्म है। जप द्वारा वह भाव-काया निर्माण करें और उसके द्वारा अनन्त से सम्बन्ध स्थापित करें। वासना-विकारों से तो वह सम्बन्ध नहीं बांधा जा सकता, क्योंकि इनमें क्षमता नहीं अनन्त को स्पर्श कर सकने की। स्थूल मूर्ति या छबि भी रखते हैं तो उसे अनन्त का प्रतीक जानते हुए हो। वह रूप कोई भी हो, माधव हों या राघव, शिव हों या शक्ति। उसे कहते यही हैं म! कि "तुम घट-घट वासी हो, अन्तर्यामी हो, सर्वव्यापी हो, सर्वसमर्थ हो!'

यह सब क्या उस तीन इंच या डेढ़-फुट की पत्थर-काठ-धातु की मूर्ति में होता है? उस सान्त को अनन्त का, सगुण को निर्गुण का,

साकार को निराकार का प्रतिनिधि हो मानते हैं न आप ! इसीलिये उन की पूजा करते हैं, भाव रखते हैं। भाव आया तो विचार-विकार-वासना सब शान्त हो जाते हैं। वह भाव ही फिर "भावातीतं त्रिगुणरहितं" की ओर ले जाता है।

आप पूजा-उपासना का मार्ग लें, या जप-तप का मार्ग लें। परिणति आखिर कहाँ होती है ? अहङ्कार प्रेम में घुल जाय या ज्ञानाग्नि में गलित हो जाय। यही होना है न। ठाकुर रामकृष्ण ने देवो की आराधना की। कहते– "मां ! मैं यन्त्र हूँ तुम यन्त्री हो ! तुम जो करोगी वही होगा"। उनका साधना-क्रम देखिये ? तोतापुरी आ पहुँचे वहाँ। उन्होंने निर्गुण–निराकार की साधना करवाई। ठाकुर ने कहा "माँ सामने आती है। तोतापुरी ने एक काँच का टुकड़ा उठा कर भ्रूमध्य में प्रहार किया। और कहा कि माँ की मूर्ति सामने आये तो उसे भी तोड़ डालो। तुम्हारी 'माँ क्या उस मूर्त्ति में है ? उन सर्वव्यापिनी सत्ता शक्ति को तुम इतनी सी मूर्ति में बाँध रखोगे ? यह सुन कर रामकृष्ण चकित हुए कि माँ की मूर्ति को भी तोड़ डालूँ ?····उपासना-आराधना के लिये हम जिस प्रतीक का निर्माण करते हैं—ज्ञान-खड्ग से उसे भी भेद कर आगे जाना पड़ता है। ठाकुर ने वह किया, और निर्विकल्प समाधि उन्हें सध गयी।····विवेकानन्द तड़फड़ा रहे थे उस निर्विकल्प समाधि के लिये, तब रामकृष्णदेव ने अन्तिम बीमारी के दिनों में उन्हें थोड़े समय के लिये उसका अनुभव करा दिया था।

मौनमार्ग द्वारा आत्मानुभूति की जो बात मैं कह रही हूँ वह इसीलिए कि शब्द, गुण, भाव के भी पार जाना होता है। इस का अर्थ शब्द-भाव-गुण का निषेध करना नहीं है। इस साढ़े तीन हाथ की काया में रहते हैं और आजीवन व्यक्त सृष्टि के साथ, असंख्य सम्बन्धों में रहना है तो शब्द-गुण-भावादि का निषेध कर के कैसे चलेगा जीवन।

"अद्वैत ने झाड़ा द्वैत का आँगन !"

मधुराद्वैत के प्रथम प्रवर्तक योगेश्वर ज्ञानराय ने भक्ति में भी अद्वैत का अधिष्ठान प्रतिष्ठित किया।····इस लिये यह मेरा कहना नहीं कि मौन ही एकमात्र मार्ग या साधन है। आप कोई भी साधन पकड़ें, किसी भी रास्ते से जायें, पर किसी न किसी तरह मौन बीच में आयेगा ही। उसे लाँघ कर या उसको उपेक्षा कर के आगे जा नहीं सकेंगे, इतना ही मेरा कहना है।

वैयक्तिक संस्कार, आनुवंशिक संस्कार, ज्ञातिगत, धर्मगत, देशगत संस्कार—इन सबके कारागार में व्यक्तिचेतना बन्दी हुई पड़ी है। और इससे परे कहें या भीतर कहें, गहराई में कहें—वैश्विकचेतना है, जो संस्कारमुक्त है। मानवचेतना की समग्रता संस्कारमुक्त है। (The Totality of human consciousness has not been conditioned.) अपने अनुभव में जो यह संस्कारित व्यक्तिचेतना है इसे भी काम में तो लगाना ही है। भजन गायें, उपासना करें, तीर्थयात्रा-जप-तप जो रुचता हो वह अवश्य करें, हम मना नहीं करते, पर वह करने से यदि मन शांत न होता हो तो करना व्यर्थ है। मन शान्त होने का अर्थ है विकारों का शमन, संकल्प-विकल्पों का शमन; अर्थात् शून्य हो जाना। "वह है शून्यों का निष्कर्ष" निवृत्तिनाथ कहते हैं—"मानो सब शून्यों का निचोड़ निकालकर उस रस का प्राशन किया⋯⋯" निवृत्तिनाथ ने नाथपन्थ का रहस्य और शून्य का रसप्राशन करने की कला गहिनीनाथ से पायी थी। वही ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा है। "गाते हुए शब्द, मौन हुआ मन।—इसे टाल कर या छोड़कर रास्ता आगे नहीं बढ़ता।

"साधनानामनेकता, साध्यस्य एकता" भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य है। अतः हमारे अर्थों का विपर्यास (गलत या विपरीत अर्थ लेना) कोई न करें।

"स्वल्पस्यापि अस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्"

लक्ष्य आत्मसाक्षात्कर या भगवत्साक्षात्कार हो तो किसी भी साधना-पथ से चलने वाले का अशुभ कुछ नहीं हो सकता।

अपने जीवन का लगाम, डोर या सूत्र जो संस्कारयुक्त चेतना के साथ में है, वह संस्कारमुक्त वैश्विक चेतना के हाथ में जाये, तो फिर "हम कुछ करने वाले हैं" "हम यह करेंगे" इसकी बजाय "प्रभु जो करवा लेंगे वह होगा"--ऐसी चित्त की दशा--अवस्था जागृत होती है। कर्ताभाव चला जाता है, भोक्ताभाव तो रहता ही नहीं। देहपात्र में से संस्कारों के अनुसार कर्मसरिता बहती रहती है—कर्तारहित कर्मसरिता। कर्ताभावनिरपेक्ष कर्मसरिता ही तो कर्मयोग है।

ॐ

द्वितीय प्रवचन

दि० २६-१-८८ सुबह

कल हम विचार कर रहे थे कि मौन का, शून्यता का सत्त्व क्या है ? उसमें कौन-कौन सी ऊर्जायें वर्तमान हैं। देखा था कि मन के मौन का अर्थ है—मन की सब गतियों का—विचार-विकार-कल्पना आदि बहु-आयामी गति का स्वेच्छा से, सहज रूप से, विसर्जित होना। चित्त का निर्विषय होना—इसे हम मौन कहते हैं। उस निर्विषय अवस्था में चेतना का "अस्मत्-युष्मत्-अहम्-इदम्" "मैं-तुम-यह" ऐसी प्रतीतियों में विभाजन नहीं होता। द्वैत सिमट जाता है, द्वन्द्व अस्त हो जाता है, "एकमेवा-द्वितीयम्"—ऐसी एक संस्कारमुक्त वैश्विक चेतना-मात्र रहती है।

आज हम विचार करेंगे—वैयक्तिक मन और वैश्विक मन। (The Individual consciousness and the Cosmic consciousness.) ये क्या हैं ? जिसे हम "मेरा मन", 'मेरी बुद्धि' कहते हैं वह वास्तव में कुछ हैं भी ! या केवल भ्रम है ?

(Is there anything like individual mind at all ?) सत्संग में यदि सत्य की शोध करने आये हों तो इस चिन्तन का साहस हम में होना चाहिये। "हम मानते आये हैं, ऐसा ही सुनते आये हैं, इसलिये वह होगा ही।" ऐसा आग्रह यदि चित्त में हो तो इन मान्यता-धारणा-कल्पना-सिद्धान्त आदि की मर्यादा में ही हमें बैठे रहना पड़ेगा। फिर खोज कैसी होगी ? हम मानते आये हैं कि हमारा अपना-अपना व्यक्तिगत मन, व्यक्तिगत 'अहं' है। अब इसी की जाँच-परख करनी है कि यह भ्रान्ति है या तथ्य, वास्तविकता है ?

हम जिसे मन कहते हैं वह क्या हृदय, मस्तिष्क, जिगर, आँख-कान-नाक आदि जैसा कोई अवयव है शरीर में ? मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय कहा अवश्य है पर वह शरीर के किसी भाग में पृथक् स्थापित है ? जिसे दसों इन्द्रियों से पृथक् दिखाया जा सके। या फिर, अपने भीतर जो संस्कार-समुच्चय में हमारे वंश-जाति-धर्म-देश के पूर्वजों की अनुभूतियाँ शब्द अथवा चित्र के रूप में शेष हैं वे ही हम में सङ्क्रान्त होती आयी हैं। सम्पूर्ण मनुष्यजाति की अनुभूतियाँ यह संस्कार-राशि बन

कर हम में उतरी हैं। क्या उसी को "मन" नाम दिया गया है ? इससे अलग कुछ मन है क्या ? जो शब्दात्मक विचार या विकार भीतर पड़े हैं, जो भावनायें, मूल्यांकन, कसौटियाँ शब्दाङ्कित या अकथित रूप से रक्त-अस्थि-मज्जा-स्नायुओं में पड़ी हैं, उन्हें तो हम "मन" नहीं कहते ? क्या इस मन का अस्तित्व विशिष्ट अवयवरूप न होकर केवल स्पन्दनात्मक रूप से शरीर में सर्वत्र छाया हुआ है ? नखशिखान्त संस्कारों की कोई स्पन्दनात्मिका काया है ? जिसे 'मन' नाम से पहचाना जाता है ?

ये संस्कार सारे जगत् में अलग-अलग समय व स्थानों पर अलग-अलग प्रकार से उत्पन्न किये गये हैं। हिन्दू समाज ने अपने अन्तर्गत मनुष्य को एक प्रकार के जीवनमूल्य दिये हैं, कसौटियाँ व प्राथमिकतायें दी हैं—परम्परा द्वारा, शिक्षण के नाम से, धर्म के द्वारा, प्रथाओं द्वारा। इनसे एक "हिन्दू मानस" बना। वह बड़ा व्यापक है। उसमें शाखा-उपशाखा-प्रतिशाखायें बहुत हैं। ऐसे ही 'मुसलमान-मानस' बना। उसमें भी अन्तर्भेद है, शिया-सुन्नी-सूफ़ी जैसे विभाग हैं। 'ईसाई-मानस' में भी फिर कैथोलिक, प्रोटेस्टेन्ट आदि भेद हैं। बौद्धों में महायान-हीनयान-वज्रयान, जैनों में-श्वेताम्बर-दिगम्बर-स्थानकवासी-तेरापन्थ ···· इत्यादि।

इस प्रकार संस्कार-राशि " तरह-तरह के नमूने बने। इन विभागों में उनकी सुव्यवस्थित-सुग्रथित छँटनी की गई। समाज ने उन विभाजनों को समर्थन दिया। शास्त्रियों-पण्डितों-विचारकों की सभायें होतीं, उनमें निर्णय लिये जाते। (The conditionings were systematically organised, standardised & sanctionised by the society) फिर वे सिखाये जाते--घरों में दादा-नाना-माता-पिता आदि गुरुजनों द्वारा, विद्यालयों में शिक्षकों द्वारा, समाज में रूढ़ि-प्रथा-परम्परा द्वारा चहुँ ओर के वातावरण में घोल कर वे संस्कार संक्रान्त किये जाते।—ऐसा करते-करते हो तो 'मन' निर्मित हुआ। तो आप-हम किस बल पर कह सकते हैं कि "ये मेरे मूल्य हैं" ! क्या ये समष्टिगत या सामुदायिक नहीं ? (Is it not something collective ? Is not what you call your mind—a sample of that collective, organised standardised mind ?) एक-एक सामुदायिक 'मानस' तैयार किया गया विभिन्न समाजों में। यह कोई दोष नहीं है। इसके सिवा "संस्कृति" और "सभ्यता" क्या चीज हैं भला ? "प्रकृति" से लेकर "संस्कृति" तक की

यात्रा ही तो मनुष्य-जीवन का इतिहास है न ! संस्कार तो घड़ने ही पड़ते हैं। हम यहाँ देख रहे हैं यथार्थता।

वे सुग्रथित-सुगठित-व्यवस्थित एवं समाजमान्य विचार-आचार-संस्कार पीढ़ी-दर-पीढ़ी संक्रान्त होते आये। और हम मानने लगे कि "यह मेरा मन है, मेरी बुद्धि है, मेरी समझ है।"......आँख खुली, सामने कोई पौधा दिखा। मान लीजिये तुलसी का पौधा दिखा। कोई ५०-६० वर्ष पार की हुई हिन्दू महिला होगी या पुरुष भी हो तो उसके भीतर एक प्रकार की नाड़ीगत व रासायनिक गति उत्पन्न होगी—उसमें आदरभाव, पवित्रता का भाव, उससे सम्बद्ध प्रसन्नता का भाव उठेगा, आसेतु हिमाचल भारत भर में हो नहीं, दुनिया के किसी भी देश में रहने वाले प्रौढ़-वृद्ध हिन्दू भारतीय के चित्त में वही भाव उठेगा। पर उसी घर में उत्पन्न किशोर-तरुण लड़के-लड़की में उस पौधे को देखकर वैसी ही हलचल उत्पन्न हो यह जरूरी नहीं। क्योंकि इनके संस्कार बदल चुके हैं।

"कुराने शरीफ़" या "हज़रत मोहम्मद" शब्द का उच्चारण हो कि किसी भी पाक़ मुसलमान के चित्त में एक प्रकार का स्पन्दन-प्रवाह बह चलेगा—वह शिया हो, सुन्नी हो, सूफ़ी हो, वह किसी भी देश का हो। 'कुरान' पढ़ा हो या नहीं। पर उस शब्द को सुनते ही उसके साथ जुड़ी भावनायें उमड़ पड़ती हैं (Associations of emotions & ideas get stimulated in the blood.) वैसे ही ईसाई मानस में होता है—"God The Father, The Holy ghost—Church—Cinagouge।' सुनकर।

ये ही शब्द आप रूसी या चीनी व्यक्ति के सामने बोलिये—तो तिरस्कार या उपहास उत्पन्न होगा सर्वथा विपरीत संवेग उठते हैं। इतना इन सुग्रथित-गठित संस्कारों का प्रभाव है।

इसलिये अपने मन की हलचल का अर्थ है कि अपने समाज-वंश-परम्परा में जो संस्कार दिये गये, जो मूल्य संक्रान्त किये गये, उनकी हलचल है वह। उसे हम अपनी हलचल मान लेते हैं।

(We impose individuality upon the expression of something collective.)

पाप-पुण्य की व्याख्या, शुभ-अशुभ की व्याख्या कीजिये। किसी भी तरफ ज़रा आँखें खोल कर देखें। पदार्थ देखें तो भावनायें जागती है, शब्द सुनें तो वे जागती हैं, उनमें तर-तम-भाव के मूल्याङ्कन, उनके

स्वीकार-अस्वीकार की भावना, उनमें इष्ट-अनिष्ट, हेय-उपादेय (त्यागने योग्य या लेने योग्य) आदि भावनायें क्षण के शतांश में उभर आती हैं—अनैच्छिक स्वयंचालित क्रियाओं की तरह—यह क्यों ? मुझे यही कहना है कि व्यक्तिगत मन की कोई वास्तविकता नहीं है। (There is nothing like individual mind.) बड़ी गम्भीरता से यह कहती हूँ। बुद्धि की मदद से, संस्कारित चेतना की मदद से, इस समाज में हम कैसे बर्ताव करें इतना ही निर्धारित किया गया हो—यही नहीं; इस संस्कारित चेतना ने अपने आस-पास फैला हुआ जो अज्ञात या अज्ञेय है, जो मनुष्य-निर्मित नहीं, जो स्वयंभू-स्वयंसिद्ध है, जो व्यापक है, एकदेशी नहीं है—उससे भी सम्बन्ध बांधने का प्रयत्न किया है। और वह क्या है इसका बुद्धि से निर्णय करके उससे सम्बन्ध-निर्माण की पद्धतियाँ तक बनायी हैं।

'ईश्वर' (The manmade God) भी तो मनुष्य ने ही बनाया है न ! अपनी उपासना-साधना वृत्ति की सन्तुष्टि के लिये। उस कल्पना के प्रतीक बनाये। उनके लिये मन्दिर-मस्जिद-गिरजे आदि बनाये। जो 'है' उसे नाम दिये 'परमात्मा' 'अल्लाह' 'GOD' सुन्दर हैं। क्योंकि जो कुछ भी अनुभव-प्रतीति गोचर है उसे कुछ न कुछ नाम-रूप का बाना पहनाये बिना मनुष्य को चैन नहीं पड़ती (Unless you name the things around, you feel lost.) इसलिये जो भी आसपास है उसे जानने का, उससे अपना सम्बन्ध बांधने का प्रयत्न सर्वथा स्वाभाविक है। उसी में से तत्त्वज्ञान बने, पद्धतियाँ बनीं, स्वयंसिद्ध वस्तु को संज्ञायें दी गयीं। उन नामों से आगे जाकर उसकी तदात्मता के अध्यास-सहित प्रतीक बनाये। उन प्रतीकों के माध्यम से उससे सम्बन्ध बांधना हमने सीखा।

वह सर्वान्तर्यामी है, विश्वाधार है, विश्वाकार है—इतना जानने-कहने भर से सन्तोष नहीं हुआ। इसलिये फिर मधुर-रमणीय विट्ठल-मूर्ति बनायी, राम-कृष्ण-शिव की मूर्त्तियाँ बनायीं, शालिग्राम व शिवलिङ्ग (पिण्डी) बनाये। फिर उनके सामने बैठे हम। "सर्वाधार-सर्वाकार" के तो सामने बैठा नहीं जा सकता, उनसे प्रेम व्यक्त करना नहीं हो पाता। और प्रेम किये बिना, कहीं समर्पित हुए बिना, चित्त को सन्तोष नहीं होता। कहीं आत्मोत्सर्ग की प्यास रहती है। पूरा-समूचा मनुष्य कहीं अपने आप को उँडेल सके, पिघलकर समा जाय कहीं। अहंकार की गाँठ छूट जाय ! ऐसी प्राणों में अभीप्सा रहती है। वह केवल ज्ञान-जन्य नहीं। शरीर को जैसे अन्न की भूख लगती है वैसे—(उससे भी

कहीं अधिक गहरी) प्राणों को प्रेम की भूख होती है। इसीलिये वे प्रतीक बनाये; मानो समर्पण की वेदियाँ बनायीं।

परन्तु ये सब मनोनिर्मित हैं—इतना समझ रखें। प्रतीक न बनायें, जाना हुआ सत्य शब्दाङ्कित न करें--यह आशय नहीं मेरा। उसके बिना रहा भी नहीं जाता। "स एकाकी न रेमे।" "एकोऽहं बहु स्याम्!" इसीलिये तो "तत्त्व" ने अपनी एकता से रमण के लिये अनेकता का दर्पण बनाया। "एकमेवाद्वितीयम्" "सत्तामात्रता" का मुखड़ा देखने के लिये ही तो यह अनेकता बनायी। उस परम आराध्य स्वयं तत्त्व से जब अकेले रहते नहीं बना, अपने स्वरूपभूत आनन्द का भी आस्वाद नहीं ले सका--तो हमें अभिव्यक्ति बिना कैसे चैन पड़े। इसलिये—प्रतीक, कल्पना, संज्ञा, शब्द आदि सब जो पसारा है, ये जो मनुष्य जाति के सांस्कृतिक खिलौने हैं—इनका निषेध नहीं है।

मैं जब यह चर्चा करती हूँ तो बहुत-से श्रोता घबरा जाते हैं। सापेक्ष-सत्य और निरपेक्ष सत्य का विश्लेषण करने लगें तो उन्हें लगता है कि हमारा सापेक्ष सत्य कोई छीन रहा है। लगता है--"क्या भगवान्, पूजा, स्तोत्र-भजन आदि सब कुछ ये ले जायेंगी ?"···इस भारत देश में सत्य की ओर आँख खोल कर देखना—और वह जैसा है वैसा उसे स्वीकार करना—इतना भी धैर्य नहीं रहा है। हम इतने भीरु हो गये हैं।····मैं यह तथ्य दिखा भर देना चाहती हूँ कि जिन ईश्वर को हम आराधना-भजन-पूजा करते हैं--वे मनोनिर्मित हैं, और यह सब भावना-भिव्यक्ति मनुष्य की अपनी मानसिक-चैतसिक (psychic) माँग (आवश्यकता) है। उससे मन को शान्ति, प्रसन्नता मिलती है। उससे, श्रान्त जीव को विश्राम मिलता है। उसकी उपयोगिता कम नहीं। आपके डॉक्टर-वैद्य-मनोवैज्ञानिक जो चिकित्सा करेंगे—ओषधि-उपाय करेंगे उनकी अपेक्षा यह suggession, auto-suggession वाला इलाज अच्छा है। पर वह वस्तुतः क्या है यह पहचान कर उसका उपयोग-विनियोग करें।

ज्ञान में यदि जीवन की परिसीमा-परितृप्ति हो तो "जाणोनि नेणते करीं माझे मन" (ज्ञान होने पर भी अनजान बना दो मेरा मन, यह कहा न होता।" "ये चारों ही वाचा शृंगार हैं अविद्या का" परावाणी पर्यन्त अविद्या का ही क्षेत्र है ऐसा ज्ञानराय कह गये हैं। बुद्धि का साहस देखिये अवश्य ! बुद्धि में उत्साह है तो उसे चलाइये खूब—चलिये

उसके साथ, जहाँ तक वह जा सके। पर उसकी मर्यादा अवश्य समझ रखिये। जहाँ तक मन-बुद्धि का स्पर्श हो सकता है, जहाँ तक शब्दाङ्कन सम्भव है, वहाँ तक इस मनोनिर्मित सृष्टि का व्याप है पर वह मर्यादित है, सान्त है, और जीवन अमर्याद है। जिसको मर्यादा है उसको परिधि है।

इसलिये तत्त्वज्ञान से होने वाले या जप-तप आदि में होने वाले अनुभव मनःसृष्टि में घटित होते हैं--यह भी पहचान लेना चाहिये। जैसा कि पहले कहा जा चुका है—ये सब सुव्यवस्थित-सुग्रथित संयोजित किये हुए हैं।

(Organised, standardised & sanctioned by the society in so many different designs.)

वैश्विक जीवन अद्भुत वैविध्यभरा सांस्कृतिक उद्यान है। कितने धर्म कितनी भाषायें, कितनी संस्कृतियाँ कितने संस्कारों के प्रकार, कितनी सामाजिक पद्धतियाँ ? और अध्यात्म, आत्मोपलब्धि, ईश्वरप्रणिधान ! ये उनसे परे की बात है, किन्तु जैसे आत्मा का भान होने का अर्थ देह की उपेक्षा व निषेध नहीं, उसी प्रकार उस निरुपाधिक परम सत्ता का भान—अनुसन्धान होने का यह अर्थ नहीं कि संस्कृतियों से प्राप्त संस्कारों का निषेध किया जाय, अवज्ञा की जाय, कहना इतना ही है कि उनकी मर्यादा पहचाननी चाहिये। The built-in limitations in the nature of thought, in the movement of mind. जहाँ-जहाँ शब्द है वहाँ मर्यादा है। और जीवनसत्ता तो अमर्याद है। अणुरेणु में व्याप्त-जीवन अपार-असीम-अमर्याद है। उन अणुरेणु में कितनी ऊर्जायें भरी हैं ?इसका गणित मनुष्य नहीं लगा सकता।

आप उसका कोई माप तौल–अनुपात (ratio) नहीं बाँध सकते। The quantum of energy contained in an atom. Does it depend upon the size of the atom, the mass of the atom ? अणु के परिमाण–आकार–भार से उसमें भरी ऊर्जा का अनुपात नहीं आँका जा सकता। अणुरेणु में व्याप्त ऊर्जा मानव की गणित की क्षमता से परे है। जहाँ आकार नहीं, पदार्थ नहीं, नाम-रूप नहीं, 'व्यक्त हो चुका हुआ'—व्यक्ति नहीं। ऐसा जो अव्यक्त शून्य रूप आकाश—अवकाश है, उस में भरी ऊर्जा का मापतौल मनुष्य कैसे निकाल सकता है ?

मौन का अर्थ है—अहंकार द्वारा बनाये हुए छोटे-छोटे घरौंदों—"मैं, मेरे विचार, मेरे मूल्यांकन, मेरा घर, मेरे सम्बन्धी, मेरा कुटुम्ब, मेरी जाति, मेरा धर्म, मेरा देश,"....और थोड़े बड़े घरौंदों 'मनुष्यजाति' 'पृथ्वीमण्डल' इत्यादि की सीमायें लाँघकर मनुष्य आगे निकल जाता है। जीवन को सनातनता की ओर, अमरता की ओर, जन्म-मरण दोनों जिसपर उठने वाली लहरियाँ-मात्र हैं ऐसी सत्ता की ओर अपने कदम बढ़ रहे हैं।

अभी इन प्रतीकों का, घरौंदों का, मान्यताओं का मोह है। हमें लगता है कि इनसे परे कुछ नहीं; ये ही सर्वस्व हैं जीवन के। We equate the totality with the known, the experience of the human race. (हमें लगता है कि मनुष्य के इतिहास में जितना अंकित है, जो अनुभूत है, ज्ञात है,—उतना ही बस जीवन है, उससे आगे उसके अतिरिक्त कुछ नहीं। इसीलिये तो हम कहते हैं कि जितना बुद्धि में आता है उसी का अस्तित्व है, और कुछ नहीं है। हमारी इन्द्रियों की पहुँच में जो नहीं आता वह है ही नहीं)—ऐसी बौद्धिक उद्धतता (intellectual arrogance—intellectomania) मनुष्य को ग्रस लेती है।

मेरा यही कहना है कि बुद्धि और मन—एक तो वैयक्तिक नहीं हैं, वैश्विक हैं, समष्टिगत हैं, (Global, collective) समष्टि का एक नमूना हैं। इसलिये इन में वैयक्तिकता (individuality) नहीं, व्यक्तिता नहीं, विशिष्टता (particularity) है।

We have to distinguish particularity from individuality.

आप किसी 'सुपरमार्केट' में जायें—वहाँ बहुत बड़ी संख्या में थोक बन्द—जत्थेबन्द (mass scale) स्तर पर जो वस्तुयें बिकती हैं—सिले-सिलाये तैयार कपड़े, जूते-दस्ताने-मोजे-इत्यादि, उन में से आप अपने नाप एवं पसंद की वस्तु चुन लेते हैं।(A particular sample of a good created or made on mass-scale.) हजारों लाखों की संख्या में वे वस्तुयें बनी होती हैं। उन में से एक आप ले आये। इससे उस वस्तु में कोई व्यक्तिता नहीं आई।

इसी तरह हम अनेक संस्कारों में से अपने अनुकूल संस्कार शिक्षण के अनुसार ले लेते हैं। कोई हिन्दू से मुसलमान बनता है, कोई बौद्ध या जैन बनता है, कोई बौद्ध से ईसाई या मुसलमान बनता है। ईसाई से बौद्ध

या किसी भी धर्म से अन्य धर्म में जाते हैं। और कोई संसार के सभी धर्मों में से समान तत्त्व खोज निकालते हैं—थियॉसॉफी ! ब्रह्मविद्या के अध्ययन के लिये बनाया हुआ उनका भ्रातृसंघ है विश्वभर का एक संगठन (They tried to integrate the essence of all religions in the world then, & perhaps now.)

पर यह संस्कारों का चयन और बुद्धि की करामात—सब मन का ही क्षेत्र है। इसलिए इनकी जो गति है, 'अज्ञात व अज्ञेय' कहकर की गयी ईश्वरसम्बन्धी कल्पनायें हैं—वे भी समेट लेनी होंगी, मौन में प्रवेश के लिए। और वे सिमट जाती हैं, जब मालूम पड़ता है कि ये सब विचार आदि अपना कुछ नहीं, ये तो हम में संक्रान्त किये गये हैं, सिखाये गये हैं। (We have been trained to behave in certain ways, to react in certain ways.)

यह भान आने पर वह जो अभिमान था—"मेरा सुख," "मेरा दुःख' और उन सुख-दुखों की स्मृतियाँ लिये हम घूमते थे उनसे पूर्वग्रह बाँधते थे, पक्षपात व ग्रन्थियाँ पैदा करते थे; राग-द्वेष उपजाते थे—वह अभिमान निकल जाता है चित्त में से। उस सारे गोरख धन्धे से मनुष्य को मुक्ति मिलती है।

जब वह जानता है कि मन व्यक्तिगत नहीं है, वह एक सुन्दर करण (साधन) है अपने पास, उसका यथोचित उपयोग अवश्य करें; जैसे रेडियो, टेलीविजन का उपयोग करते हैं, विमान में चढ़ते हैं, मोटर या रेलगाड़ी में जाते हैं—वैसे मन का-विचारों का-बुद्धि का भी आवश्यकतानुसार उपयोग करें। पर यही सर्वस्व नहीं है अपना ! यह समझ रखें। तब मौन का भय निकल जाता है।

Individuality on the level of mind is never possible.

मन की भूमिका पर, मन के स्तर पर 'व्यक्ति'ता सम्भव ही नहीं—नम्रतापूर्वक साथ ही निर्भयतापूर्वक यह मुझे कहना है।

मान लीजिये द्रष्टृत्व की मदद से मन की यह सब हलचल शान्त हो गयी। फिर द्रष्टृत्व भी विसर्जित हो गया और चित्त शून्य से व्याप्त हो गया। तब, जिसे हम "व्यक्तिगत मन" कहते हैं वह शान्त हो जाता है। "सब गतियों को गति। वही है शरणागति।" क्यों कहा होगा उसे तुकाराम ने ! और 'सब शून्यों का निष्कर्ष'—ज्ञानराय ने क्यों कहा होगा ? क्योंकि जागृति व स्वप्न में हम संस्कारों से तदात्मता बाँधे रहते

हैं। उत्तर गीता में कहा हुआ--"सः अहं अहं सः"—ऐसा आत्मतत्त्व-मन्त्र का परस्पर समाश्रय नहीं;—यह तदात्मता नहीं। हमारी तदात्मता है—बुद्धि व शरीर के रक्त-मांस-मज्जा में समाये हुए संस्कारों और उनकी व्यवहार पद्धति से। वह छूटती है तब जी घबराता है। मनुष्य घर-बार-कुटुम्ब तो छोड़ देगा; पर भीतर जो पकड़े बैठा है—उसे छोड़ना नहीं चाहता। "मेरा साधना का मार्ग।" अहंकार का चोला बदलता है, आश्रयस्थान बदलते हैं, पर उसकी गुणात्मकता नहीं बदलती। उसके आग्रह-आवेश बदलते हैं। आग्रह-आवेशादि के भी आश्रय बदलते हैं। पर यह बदलना अध्यात्म नहीं।

ये सब गतियां मौन में शान्त होती हैं--यही शरणागति है। ज्ञात सब अज्ञात के प्रति शरणागत होता है। कविहृदय की भाषा है। सम्पूर्णतया गतियों का विसर्जन करके अपने 'होनेपन' में लौट आता है। मौन में संस्कार नष्ट नहीं हो जाते।

"शक्कर फिर कैसे हो गन्ना !"—एक बार गन्ने के रस से शक्कर बन गयी, वह वापस गन्ना नहीं बन सकती। इसी तरह एक बार जो "संस्कार" बन गये वे वापस प्राकृतता में नहीं जाते । वे रहेंगे, उनके नष्ट होने की आवश्यकता भी नहीं हैं। केवल उनसे जो तादात्म्य बँध गया—जीवन की समग्रता को जो हम छोटे से घरौंदे में बाँध रख रहे थे—वह खेल ही शान्त होने की जरूरत है। "व्यक्तिगत मन है" "मैं" हूँ"—यह भ्रम मौन में शान्त होता है। यह भ्रममुक्ति-भ्रान्तिमुक्ति ही मौन का महान् आशय (सत्त्व) है। (The content of silence is the relief from the illusion of the individual mind, the release from the I-consciousness.) कितनी बड़ी घटना है यह।

ये गतियाँ शान्त पड़ती हैं यानी क्या होता है? आप के नाड़ीतन्त्र रसायनतन्त्र में होनेवाली हलचल, क्षोभ, उत्तेजना, असन्तुलन हैं—वे शान्त पड़ते हैं। एक विचार उत्पन्न हुआ या विकार उठा कि शरीर में कितनी जगह तनाव उत्पन्न होता है कभी देखा है? क्रोध आये तो नीचे से ऊपर कैसी गर्मी दौड़ती है? आँतें कैसी खिच जाती हैं? भय उपजे तो रक्त कैसा ठण्डा-सन्न पड़ जाता है? आँखें फैल जाती हैं, कण्ठ सूखने लगता है? भूख नहीं लगती, नींद नहीं आती। कुछ सूझता नहीं। क्रोध में जैसे ज्वर-सा चढ़ जाता है, आदमी बड़बड़ाने लगता है। क्या बोल रहे

हैं—इसका भान नहीं रहता। सन्तुलन खो जाता है। कोई देखता नहीं कि विकारों के आवेग-विचारों के आवेश उठने पर अपनी इस सुन्दर "गात्रवीणा" के साथ क्या-कैसा अत्याचार होता है। यह जो अतीव संवेदनशील नाज़ुक व जटिल-संकुल संयन्त्र शरीर हमें मिला है—(the electro-magnetic apparatus, much more subtle than that.) इसकी ओर ध्यान भी न देते हुए जन्म से लेकर मृत्यु-बिन्दु तक दौड़ते-गिरते-पड़ते हाँफ़ते चले जाते हैं। चित्त मौन में स्थिर होता है तब इन सब तनावों-दबावों-असन्तुलनों-क्षोभ आदि से शरीर को मुक्ति मिलती है।

(The whole complexity of your physical structure is relaxed, free from all the tensions, imbalances. It gets unconditional total relaxatiyn.) एक पूर्णतया विश्रब्ध-विश्रान्त शान्ति का अनुभव होता है। शरीर में एक शीतलता आती है। ऐसी जब सर्वथा तनाव-दबावमुक्त विश्रब्ध शीतल शान्त अवस्था शरीर की होती है, तब भीतर पड़ी हुई जो ऊर्जा है—जिसका अभी हमें परिचय ही नहीं, जिसे मनुष्यजाति "Unconditioned energy" के सिवा कोई नाम नहीं दे पा रही है, उसके लिये संस्कृत में एक मधुर शब्द है 'प्रज्ञा' एवं 'पश्यन्ती वाक्' (The perceptive sensitivity of the intelligence) वह जागती है।

मौन साधना में उस ऊर्जा का संशोधन और व्यवहार में—दैनन्दिन जीवन में—सम्बन्धों में उसका विनियोग करना—ऐसी एक क्रान्तिकारी अध्यात्मसाधना की ओर बढ़ने की आवश्यकता है। मेरे देखे अध्यात्म है—सम्पूर्ण जीवन की समग्र क्रान्ति ! कोई नई बौद्धिक निष्ठा का संग्रह नहीं।

Transformation in the totality of your being. Not an intellectual conviction ! New way of perception & response. नया दर्शन, नये प्रतिसाद, उनके द्वारा नयी गुणात्मकता आती है।

मौन में व्यक्तिगत मन और व्यक्तिगत चेतना का भ्रम विसर्जित होने पर एक विश्रब्ध-विश्रान्तता उत्पन्न होती है। उस शून्य में क्योंकि केन्द्र में अहंकार नहीं, इसलिये चारों ओर ज्ञान व अनुभूतियों का परिधि नहीं। ऐसी जो परिधिमुक्त-केन्द्रमुक्त अवस्था है उसमें संस्कार

मुक्त ऊर्जा खेलने लगती है। वह उसके रोम-रोम में व्याप्त होती है। आँखें खोलीं तो वही ऊर्जा आँखों में से देखेगी। अभी तो आपकी आँखों में से आपका क्रोध देखता है, ईर्ष्या देखती है, स्वार्थ देखता है, कल्पना देखती है, आपके ध्येय देखते हैं। पर मौनावस्था स्थिर होने के बाद, संस्कार मुक्त ऊर्जा जागने के बाद वह वैश्विक चेतना (Cosmic consciousness) है, जिसे संस्कारों का स्पर्श नहीं, शब्दों का भी स्पर्श नहीं हुआ है,—वह चेतना सर्वाङ्ग में व्याप्त होती है। वही आँखों से देखती है, कानों से सुनती है, वाणी में उतरती है। बड़ा आश्चर्य घटित होता है। इसे ही अतिमानस का अवतरण (Descent of the Supramental) कहा जा सकता है। इसे ही—व्यष्टिचेतना का वैश्विक चेतना में मिलना या समा जाना—(The fusion of the consciousness with the Cosmic consciousness) या "देवों का अनुग्रह" कहा जा सकता है।

क्योंकि वहाँ "मैं" पना शेष नहीं रहता। व्यक्तिचेतना के बाद "मैं"-पन का लवलेश भी नहीं रहता। जीवन है; और वह जीवन सारे जगत् में जिस प्रकार स्पन्दन करता है उसी प्रकार यहाँ भी स्पन्दित हो रहा है—यही भाव रहता है। "मैं" और "मेरा"--पन खो जाता है।

"यह विश्व ही मेरा घर ! ऐसी मति जिसकी स्थिर।
किम्बहुना, चराचर-स्वयं ही हो रहा॥"

—ज्ञानेश्वरी

"अनिकेत: स्थिरमति:" 'अनिकेत' का अर्थ यह नहीं कि घर छूट गया। उसकी चेतना का कोई "घर" नहीं रहा।

ऐसा हुए बिना ही क्या वह "पसायदान" (प्रसाद) माँगा जाता है—"खलों की कुटिलता छूटे। सत्कर्म में ''''रति बढ़े" १८ अध्याय गीता की-भावार्थदीपिका-पूरी होने पर ज्ञानेश्वरमहाराज क्या माँगते है ?—

"दुरितों का तिमिर जाये ! वे स्वधर्मसूर्य देखें।
जो जो चाहे वही पायें—प्राणी सभी !"।

यह प्रमाण है कि चेतना वैश्विक हो चुकी।''''कर्म-वाणी-समस्त व्यवहार की गुणवत्ता बदल जाती है।

अत: मौन प्रतिष्ठित होने का अर्थ हैं वैश्विक ऊर्जा प्रतिष्ठित होना। और मेरा यह भारपूर्वक कहना हैं कि वह अध्यात्म–वह मौन में प्रतिष्ठित दशा किन्हीं मठाधीशों–संन्यासियों–संसार से पलायन कर जाने वालों के लिये आरक्षित नहीं—आप-मुझ जैसे सामान्य लोगों के लिये है। The emergence of a new human being from within you & me. And unless the new human being with a quality of new consciousness emerges, you can not have a new society, you can not have a new dymamics of human relationship.

वह दृष्टि, वह वृत्ति कहाँ से लायेंगे जिससे सारे जीवन का दर्शन बदल जाय, सारा बर्ताव—व्यवहारपद्धति बदल जाय, जीवन का पोत बदल जाय! वह कहाँ से लायेंगे?

इसलिये मौन में से कहीं जड़ समाधि की ओर नहीं जाना है। वैश्विक ऊर्जा से सजी-संवरी चेतना व्यक्तिमात्र में उमग कर काम करने लगेगी।

अब तक हम यही मानते आये हैं कि वह मुट्ठी भर लोगों का ही काम है। कोई रमण महर्षि हों! कोई "रामकृष्ण" हों!—उन्हें प्रणाम करो, पाँव छुओ। उन्हें अवतार कहो कि यह तो आप ही कर सकते हैं! हमें तो संसार सँभालना है।

हम यह नहीं देखते कि मनुष्य की चेतना के आरोहण की यह पराकाष्ठा—मुझ-आप जैसों का भी जन्मसिद्ध अधिकार है—मनुष्य होने के नाते! मानवीय चेतना का ऊर्ध्वीकरण ही भगवत्सत्ता से मिलन है।

क्यों भाई? यदि गुरुपद का अर्थ है—"वह चेतना जहाँ से अज्ञान का अन्धकार मिट गया है, अहंकारग्रन्थि पिघल कर समाप्त हो चुकी हैं"—तो उसमें मुट्ठीभर मनुष्य ही क्यों रहेंगे? चेतना का वह पद किन्हीं गिने-चुनों के लिये ही क्यों रहेगा? (Why it should be the privilege of the few?) हमने वह मान लिया है कि हम-आप का वह काम नहीं। हम से तो वह होगा ही नहीं।—यह भ्रम छोड़ने का साहस करें!

अध्यात्म-साधना वीरों का मार्ग है:—"नायमात्मा बलहीनेन लभ्य: न मेधया, न बहुना श्रुतेन!"……"बलमुपास्स्व!"

मेरा यही कहना है कि उस मौनावस्था में प्रतिष्ठित होने की शक्यता हम सब में है, जहाँ भी हम हो ! फिर जिसे उन्मनी-तुरीयावस्था कहते हैं वह चेतना की सामान्य दशा (Normal state of Consciousness) बन सकती है।

"तुरीया का तारुण्य, उन्मनी का लावण्य।
जो अनादि-अगम्य, परमतत्त्व।"

यह तुरीयावस्था चिरषोडशी क्यों है ? उसका तारुण्य व लावण्य क्यों कभी म्लान नहीं पड़ता ?—क्योंकि वहाँ चित्त विषय-विषयी में विभाजित (fragmented) नहीं है, निर्विषय है चित्त। विभाजितता से ही वार्धक्य आता है। चित्त सदा निर्विषय रहता है और व्यवहार करते समय जितनी आवश्यकता हो उतना इस विभाजन का उपयोग युक्तिपूर्वक किया जाता है।

अवकाश की जो अखण्डता है उसमें हमने विभाजन का उपयोग किया यह "हॉल" बनाकर। इस दहलीज़ को लाँघते हैं तो भीतर के विभाजित आकाश से बाहर खुले आकाश में आ जाते हैं। पर वस्तुतः जो अवकाश है वह विभाजित नहीं हुआ। यह तो जीवन चलाने के लिये एक व्यवस्था हमने खड़ी की है। शरीर की सुरक्षा के लिये 'घर' बनाये हैं। ऐसे ही मन को भी "मैं-मेरा" कहने की आवश्यकता है, उसने अपने लिये ये "निकेतन" बना लिये हैं। पर मौन के द्वार में से होकर वह इस "घर" में से बाहर निकल सके और "निर्विषय चित्त" होकर मुक्त आकाश में रह सके, इसके लिये मौन आवश्यक है। अपनी संस्कृति में उस अवस्था को जागृति कहा गया है। (The state of awareness) जो सामान्य जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति—इन तीनों से परे की अवस्था है, इसीलिए उसे "चौथी"-"तुरीया" कहा गया है। प्रातःकालीन प्रार्थना में हम गाते हैं न !—

"प्रातःस्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वं
सच्चित्सुखं परमहंसगतिं तुरीयम्।
यत्स्वप्नजागरसुषुप्तमवैति नित्यम्
तद् ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसंघः॥"

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तक में द्वैत अस्त नहीं होता। तमोगुण में लीन रहता है। पर यह लावण्यमयी चिरतरुणी तुरीयावस्था मधुराद्वैत की अवस्था है। केवल "सर्व"-पन का सर्वता का ही भान व भाव रहता है, "मैं"-पन

"अहन्ता" का नहीं !--ऐसी एक चेतना की नई दशा में जीना प्रत्येक मनुष्य के लिये शक्य है। चन्द्र पर जाकर रहना शक्य मानते हैं, "लेज़र बीन्स्" (किरणों) से शल्यक्रिया (operation) शक्य मानते हैं, तो फिर "मैं" से मुक्त होकर शब्द से परे जाकर जीना, व्यवहार क्यों संभव नहीं ? केवल ज्ञात का पल्ला छोड़कर अज्ञात की दहलीज़ पर पाँव रखने का साहस हममें होना चाहिये।

इस मौनसत्सङ्गशिबिर में, हम क्रमशः देखते चल रहे हैं कि प्रत्येक मनुष्य में वैश्विक चेतना का अवतरण कैसे हो सकता है।

●

"शब्द तो है छिलका। उसे उतार कर भीतर अर्थ की गुफ़ा में घुसना पड़ता है, जहाँ अनुभूति का आलोक है।"

× × ×

"सागर के किनारे तक ले आना शब्दों द्वारा सम्भव है; गोता लगाना—न लगाना हरेक की इच्छा का प्रश्न है।"

× × ×

"किसी-किसी को 'शब्दबाण' लग जाते हैं। ऐसे ही किसी को लग जाय—इसी आशा में तो हम बैठे हैं।"

प्रश्नोत्तरी

दि० २६-१-८८ दोपहर

प्रश्न—अपने इस शिविर में सायंकालीन अल्पाहार (के बाद) रात्रिभोजन वर्ज्य—क्यों रखा गया है ?

उत्तर—इसका एक कारण तो स्पष्ट है कि हम इस सभाखण्ड में सुबह से शाम तक कम से कम पांच छह घण्टे तो बैठते ही हैं। इतनी बैठक होने पर तथा सूर्य अस्त होने के बाद जब पाचनतन्त्र शान्त पड़ता है, तब पेट हल्का रहे तो अच्छा है—यह एक कारण है। दूसरा कारण यह है कि इस मौन-सत्संग शिबिर के निमित्त से यदि किसी को ऐसी प्रेरणा हुई कि हम यहाँ सभागृह में बैठते हैं इस के अलावा भी अपने-रहने के कक्ष में या घूमने जा कर कहीं एकान्त में ध्यान में बैठे, ध्यानस्थ हो कर जियें—तो उसमें भी अल्पाहार सहायक होता है। सूर्योदय से सूर्यास्त तक पचनेन्द्रिय अपने काम करने में प्रसन्न रहती हैं, पर सूर्यास्त के बाद उसे पूरा विश्राम मिले तभी अगले सूर्योदय के समय वह पुनः प्रफुल्लित होती है—ऐसा योगशास्त्र का देखना है। इसीलिए मैंने कहा था कि सुबह भरपूर उपाहार दोपहर में भरपूर भोजन और शाम को अल्पाहार (एक ही वस्तु) रखा जाय।

यों भी जैसा देखा है कि इस शिविर के लिए जिस वयोवर्ग के लोग आते हैं उनके लिये ऐसे आहार से कोई नुकसान तो होगा नहीं। तरुण लोग होते, ८-१० मील चलने वाले या कड़ी मेहनत करने वाले होते, तो उन्हें दोनों समय भरपूर भोजन की आवश्यकता रहती।

"परिमित ही बोलें, परिमित ही चलें, परिमित ही लें आहार भी"

नपा-तुला बोलना, नपा-तुला चलना-फिरना (व्यवहार) और नपा-तुला हो आहार (सभी इन्द्रियों का) लेना—यह जो प्रत्याहार का सत्त्व है-इसे सभी मिल कर ५-६ दिन आजमा देखें। यह तीसरा हेतु है।

यदि भोजन भरपूर किया हुआ हो तो वह शाकाहारी अन्न पचाने के लिये भी कम से कम ढाई घंटे लगते हैं—ऐसा आहारविशेषज्ञ कहते हैं। अतः शाम के भोजन तथा रात में सोने के बीच में ढाई-तीन घंटों का अन्तर अवश्य रहना चाहिये यह भी एक अन्तर्गत हेतु मन में था।

प्रश्न—"मेरे संस्कारों के अनुसार मैं साधना का मार्ग कौन सा लूँ यह निर्णय नहीं कर पाता हूँ। ज्ञान मार्ग लूँ या भक्तिमार्ग से चलूँ?—यह निर्णय कैसे हो? इसपर आप कुछ कहेंगी?"

उत्तर—प्रश्नकर्ता पिछले शिबिर में भी आये थे, अतः इतना तो जानते ही होंगे कि "आप अमुक ही मार्ग पकड़ें'—ऐसा मैं कहूँगी नहीं। मैं जब कहती हूँ कि व्यक्ति प्रामाण्य नहीं होना चाहिये, तो अपना प्रामाण्य भला मैं कैसे लादूँगी?

सामान्य रूप से भक्तिमार्ग का अर्थ है—सगुण का आधार। और ज्ञानमार्ग का आशय है—निर्गुण-निराकार की आराधना। तो जिन का स्वभाव बहुत भावनाप्रधान हो, जिन्हें लगता हो कि उन्हें कोई "साथ" चाहिये-सगुण-साकार का, इन्द्रियों से जिनकी पूजा-सेवा की जा सके, तीर्थयात्रा की जा सके—ऐसे आधार की जरूरत महसूस होती है—तो सगुण-भक्ति से आरम्भ करें। जो सत्ता निर्गुण है, वही तो सगुण भी है। सगुण-निर्गुण कोई एक-दूसरे के विरोध में नहीं खड़े हैं। जो "है" उसे न सगुण कहा जा सकता है न ही निर्गुण कह सकते हैं, और वह सगुण भी है निर्गुण भी है।

पण्ढरीनाथ का वर्णन करते हुए श्री निवृत्तिनाथ एवं ज्ञानदेव ने कहा है कि—

'तुम्हें सगुण कहूँ या निर्गुण जी!

सगुण-निर्गुण उभय-विलक्षण तेरी अनुपम माधुरी!"

सगुण-निर्गुण दोनों को समाये हुए दोनों से विलक्षण है वह सत्ता।'....

आप स्वयं को ही पूछ देखें कि आधार चाहिये या नहीं? चाहिये हो तो उसमें लज्जा न मानना, न्यूनता न समझना! साढ़े-तीन हाथ के इस सगुण शरीर में हम बैठे ही हैं न! अपने अस्तित्व की लाज कैसी?.... यदि बुद्धिप्रधान स्वभाव हो—प्रत्येक बात का विश्लेषण करना—खोल-खोलकर देखना, ऐसी वृत्ति हो, तो ज्ञानमार्ग से चलें! आत्म-अनात्म-विवेक, षड्गुण-ऐश्वर्य, मुमुक्षा—के पथपर कदम बढ़ायें। सगुण आधार के मार्ग से चलें तो अन्वय भक्ति है और ज्ञानमार्ग से चलें तो व्यतिरेक भक्ति है। (The process of elimination, the negative opproach.) वह विज्ञान का मार्ग है। मिथ्या क्या? सापेक्ष सत्य कौन से हैं?—यह देखते, उस सापेक्ष का निराकरण करते-करते अन्त में निरपेक्ष शेष रहेगा।

ज्ञान की परिणति भक्ति में होती है, और भक्ति की परिणति ज्ञान में होती है। इसलिये बहुत चिन्ता न करें। आप का जिधर सहज झुकाव हो, भीतर चित्त को जो रुचता हो--उसे ही साधनामार्ग बनायें।

मजा यह है कि यह यात्रा अपने से कहीं दूर जाने की नहीं है। दूर कहीं जाना हो तो कौन-सा मार्ग लें—यह विकट प्रश्न हो सकता है। पर यह तो स्वयं तक की ही यात्रा है। जो स्वरूप पता नहीं है उस स्वरूप को ही समझ भर लेना है।

"जो स्वरूप समझे बिना पाया दुःख अनन्त !
समझाया वह, उन्हें नमूँ श्रीसद्गुरु भगवन्त !"--(आत्मसिद्धि)

श्रीमद्राजचन्द्र नाम के एक महात्मा सन्त युवक गुजरात में अभी-अभी हो गये, जिन्हें गाँधीजी ने लगभग गुरु की भांति माना था, अपनी अध्यात्म-जिज्ञासा का समाधान उनसे पत्रसम्पर्क द्वारा पाया था। उन रायचन्दभाई ने "आत्मसिद्धिशास्त्र" नाम का एक छोटा-सा (कुल १५२ दोहों का) ग्रन्थ सरल गुजराती में लिखा। उसका प्रारम्भ ही उक्त पद्य से किया।—"जो स्वरूप मैंने समझा नहीं था, जिसके अज्ञान के कारण जन्म-जन्मान्तरों से अनन्त दुःख भोगते-भोगते यह जीव आया है, वह स्वरूप जिन्होंने मुझे समझा दिया--उन गुरुदेव को मैं प्रणाम करता हूँ !"

अर्थात् अन्ततः यात्रा किसलिये है ? स्वरूप को समझने के लिये अपने से अपने सत्त्व तक ही यह यात्रा है। और इसी स्वरूप में विश्वरूप भरा हुआ है। कोई विश्वरूप से प्रारम्भ करके आत्मस्वरूप तक पहुँचते हैं यानी भक्तिमार्ग पकड़ते हैं, और कोई स्वरूप से ही आरम्भ करके स्वरूप में ही समाते हैं—इसीमें विश्वरूप को समझ जाते हैं। इसलिये साधना में अपने से दूर कहीं जाने की दिशा ही नहीं है। और पारमार्थिक दृष्टि से सच कहें तो—"अनुपाय एव उपायः !" किसी भी क्रियाकाण्ड के घटाटोप या शब्दों के पसारे से वह स्वरूप हाथ नहीं आता। बस समझने के के लिये जितना-सा पुरुषार्थ करना पड़े उतना ही अभिप्रेत है। वही प्रथम और अन्तिम चरण है। (That is the first & the last step.) काश्मीर-शैवदर्शन का यह मूलसूत्र है।

इसलिये ज्ञानमार्ग लें या भक्तिमार्ग चुनें ?—इस पसोपेश में, चिन्ता में उलझने-घबराने की कोई जरूरत नहीं।

प्रश्न—आप 'मानव-धर्म'—शब्द कहती हैं, तो वह मानव-धर्म निश्चित रूप से क्या है ? आप की दृष्टि से मानव जीवन की सफलता-कृतार्थता किसमें है ? "आध्यात्मिक मूल्य, नैतिक मूल्य, मानवीय मूल्य" ऐसे शब्दप्रयोग आप करती हैं,—क्या उन मूल्यों में कोई भेद है ? यदि है तो कौन सा ?

उत्तर—व्यक्त सृष्टि के इतिहास और विकास में, वह जो स्वसंवेद्य चेतना है उसकी अभिव्यक्ति में मनुष्य-देहधारी प्राणी (आज तक में) सबसे अधिक विकसित है।

"ॐ नमो जी आद्य ! वेदप्रतिपाद्य !
जय जय स्वसंवेद्य ! आत्मलिङ्ग ! आत्मरूप !"

श्री ज्ञानेश्वरी में प्रथम नमन में ही सम्पूर्ण ग्रन्थ की फलश्रुति कहते हुए महाराज ने कहा—'जो आद्य हैं, जो कारणरहित कारण हैं, या समस्त कार्यजात को अपने स्वरूप में समेटे हुए प्रथम कारण हैं। जो वेदों के एकमात्र प्रतिपाद्य विषय हैं, और जिसका प्रतिपादन करते हुए वेदों और दर्शनों को थककर अन्त में "न इति-न इति" ऐसी नकारात्मक भाषा में ही वर्णन करना पड़ा है, और जो स्वसंवेद्य (self-aware) है ऐसी उस आत्मसत्ता को प्रणाम करते हैं।"

कोई मँजा हुआ सधा हुआ कलाकार 'षड्ज' लगाये (पहला सुर भरे) तब उसी प्रथम स्वर में उसकी विद्या का परिचय हो जाता है, वैसे ही ये साहित्यिकों के चक्रवर्ती, क्रान्तदर्शी कवि ज्ञानेश्वर ऐसा नमन करते हैं।

वह जो अभिव्यक्ति का उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगामी क्रम है, उसमें मनुष्यदेह में प्रकट होनेवाली चेतना की संवेदनशीलता स्वसंवेद्यता से विशेष अलंकृत है। बाकी प्राणियों में भी संवेदनशीलता अवश्य है, पर वे अपने आप को नहीं जानते। मनुष्य देह की विशेष विभूतिमत्तारूप इस स्वसंवेद्यता द्वारा अपना स्वरूप पहचानना—कि हम क्या हैं, कहाँ हैं, अपने चारों ओर क्या है ? वह जो है उससे हमारा क्या सम्बन्ध है ? यह सब कुछ जानकर उसे पहचानते हुए जीना—यही मानव-जीवन की सफलता है।

"आत्म को पहचान लो, अवसर पाया आज।
बिन पहचाने जाओगे खाली, क्या रहेगी लाज ?"

गुजरात के फक्कड़ सन्त अखाभगत ने कहा ! मनुष्यदेह तो आत्मा को पहचानने का बड़ा दुर्लभ अवसर है। उसे पहचाने बिना ठूँठ के ठूँठ इस देह से चले जाओगे तो इस देह की इज्जत नहीं रहेगी। मनुष्य देह

की दुर्लभता इसी के लिये है। आत्मपरिचय, आत्मसाक्षात्कार, आत्मबोध केवल आत्मज्ञान नहीं, आत्मज्ञान की भस्म है आत्मबोध। वह आत्म-बोध रूपी भस्म अपने ललाट पर लगा कर मेरे गुरुदेव बैठे हुए हैं," ऐसा एक जगह ज्ञानेश्वर महाराज ने लिखा है।

आत्मबोध के बाद शेष रहती है सहजता। यह सब कुछ मनुष्यदेह में सम्भव है। गुरुग्रन्थ साहब में नानकशाह कहते हैं—"अपना आपा चीन्हो!" अपना स्वरूप पहचानो! जिस भगवत्सत्ता का पसारा है यह विश्व, वह सत्ता अपने भीतर कैसी स्पन्दित होती है—यह पहचानने का पुरुषार्थ लक्ष्य है मनुष्य जीवन का। "तस्माद् योगी भव अर्जुन!" स्वरूप-आत्मरूप का रहस्य जान लिया तो उस योगावस्था में—चित्त का समत्व और इन्द्रियों का सन्तुलन उपलब्ध होता है। फिर समस्त मानवीय सम्बन्धों में और समाज में समस्त व्यवहार होता है।—"युध्यस्व विगतज्वरः"—राग-द्वेष का किसी भी प्रकार का ज्वर आपको क्षुब्ध नहीं करता। इस प्रकार इस "धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र—" में से मनुष्य जी सकता है। खाना-पीना, सुख-दुःखों के उपभोग में से गुजरना,—यह तो अन्य प्राणियों की भाँति हम भी करते ही हैं। We share that with the universe like other species. It is not only rationality which distinguishes the human species, the homosapian, from the other species, bnt it is the natural faculty of self-awareness. और यह जानने में जो मदद करे वह है ब्रह्मविद्या, जिसे मधुविद्या भी कहा जाता है।

आप ने पूछा है कि "आध्यात्मिक मूल्य क्या है?" ईशोपनिषद् में कहा गया—

> "विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
> अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥"

अविद्या यानी पदार्थविज्ञान और विद्या यानी आत्मज्ञान। ये दोनों सम्पन्न हों—यह आध्यात्मिक मूल्य है। विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय का जो आह्वान अपने सामने खड़ा है, (विश्वासपरायणता) अन्धविश्वास गतानुगतिकत्व, प्रवाहपतित व्यवहार, शब्दों का वितान; शब्दजाल, छिछली भावना-शीलता—इस सब पसारे से बाहर निकल कर वैज्ञानिक दृष्टि से जीवन को देखना आना चाहिये। अतः आध्यात्मिक मूल्य है विज्ञान और आत्मज्ञान का समन्वय और इस समन्वय से निष्पन्न होने वाला

एक नया जीवन-दर्शन। (A new perspective released through the synthesis of science & spirituality.)

नैतिक मूल्य क्या हैं ? देश-काल-परिस्थिति का अनुसरण करते हुए व्यवहार के नियम-नीतियों के शास्त्र बनाये गये, बनाये जाते हैं। प्रत्येक धर्म के, प्रत्येक जाति के नीति के मूल्य अलग-अलग भी हो सकते हैं। यह आवश्यक नहीं कि इन नैतिक मूल्यों का आधार मानवीय हो। जिस धर्म में, जिस नीतिशास्त्र में स्त्री को मानव के नाते पुरुष के समान-समकक्ष न माना जाता हो—उस नीतिशास्त्र में मानवीय मूल्य हैं—यह कहा जा सकेगा क्या ? जिस समाज में स्त्री को बचपन से रूपपरायण, देहपरायण, व्यक्तिपरायण, व्यक्तिनिष्ठ बनाया जाता है—

"पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रो रक्षति वार्धक्ये, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

उसे मानवीय कैसे माना जाय ? जब वह स्त्री "नागरिक" बनी, तब तो उसकी नागरिकता के लिये नीतिशास्त्र बदलना होगा। Every age will have its own Ethos.

इस लिये आज, ये सारे पुराने नीतिशास्त्र हिन्दू धर्म के हों, इस्लाम के हों या ईसाई धर्म के—सब सड़ने लगे हैं। Everything is in a melting pot, as it should be, & a new Ethos of the neuclear age perhaps will emerge out of all this chaos. जो कृषि-प्रधान संस्कृति थी, उसके नैतिक मूल्य अलग थे, और आज जो उद्योग-प्रधान समाज है, उसमें तो कुटुम्ब का ही स्वरूप बदल चला है। Neuclear Family बने हैं-पति-पत्नी और बच्चे। उनमें भी लड़का-लड़की १४-१५ वर्ष के हो गये कि अलग रहेंगे।

ऐसे, नैतिक मूल्य देश-काल-परिस्थिति-सापेक्ष होते हैं, इसलिये बदलते हैं। आध्यात्मिक मूल्य चिरन्तन हैं। उनकी अभिव्यक्ति अलग-अलग रूपों में होती रहती है-"दिने-दिने नवनवतामुपैति" यह सनातनत्व का ऐश्वर्य है।

'मानवीय मूल्य' शब्द का प्रयोग करती हूँ तब आशय रहता है कि मनुष्य सब समान हैं, उनके अधिकार समान हैं, उनकी जिम्मेवारियां और आवश्यकतायें सब समान हैं। मनुष्य-मात्र का जन्मसिद्ध अधिकार है—आन्तरिक स्वाधीनता, केवल आर्थिक और राजनैतिक स्वाधीनता नहीं। पिछले कुछ शतकों से इन दो स्वाधीनताओं की बहुत बातें हुईं,

राजनैतिक-आर्थिक-शोषण से मुक्त समाज, जाति-वर्ग मुक्त, स्तरों की तर-तमतामुक्त समाज तक के सपने तो मनुष्यजाति ने देखे। पर मनुष्य की आन्तरिक स्वाधीनता (Psychic freedom) की आवश्यकता की ओर ध्यान नहीं गया।

धर्म व अध्यात्म के नाम पर इस आन्तरिक स्वाधीनता का अपहरण हुआ है। इसलिये शरीर से स्वस्थ होते हुए भी मानसिक-चैतसिक रूप से रोगी-अपङ्ग जनसंख्या पूरे विश्व में फैली हुई दिखती है। अतः 'मानवीय मूल्य' कहने में मेरा आशय केवल राजनैतिक-आर्थिक-सामाजिक स्वाधीनता व समानता तक ही मर्यादित नहीं। उस से आगे एक कदम बढ़ कर आन्तरिक स्वाधीनता की बात कहती हूँ। वहाँ कोई सौदा समझौता (Bargaining) नहीं चल सकता। (The unconditioned freedon of Man) मनुष्य की सम्पूर्ण-समग्र-बिनशर्त स्वाधीनता अपेक्षित है। वही मानवीय मूल्य है।

आध्यात्मिक मूल्य, नैतिक मूल्य और मानवीय मूल्य मेरे देखे अलग-अलग आयाम है। इस बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में तथा इक्कीसवीं शताब्दी में यह बड़ा सवाल मानवजाति के सामने खड़ा होने ही वाला है कि–'व्यक्ति' के नाते जीने का अधिकार मनुष्य को है या नहीं ?

Consumerist culture, welfair-statism, Dictatorial statism, authoritarianism in the name of religion & spiritualty, Gurus, Masters & disciples ये सब व्यक्ति के सामने खड़े हैं। इनमें से रास्ता निकालना है मनुष्य को।

आप कहेंगे कि फिर मनुष्य इनमें से रास्ता क्यों नहीं निकालता ? नहीं निकालता–क्योंकि स्वातन्त्र्य की अपेक्षा सुरक्षा का अधिक महत्त्व अब तक दिमाग में भरा-ठूंसा गया है। "बेटे ! जैसे चार लोग करते हों वैसा ही करना। कोई मूर्खता मत कर बैठना ! अकेले मत चल पड़ना। नहीं तो तेरा क्या होगा ?" अनुकरण कर ! अनुसरण कर। राम जैसे, कृष्ण जैसे, शिवाजी जैसे बनो ! नहीं तो रामकृष्ण या रमण जैसे बनो ! या मार्क्स–लेनिन–माओ–गांधीजी जैसे बनो ! विनोबा जैसे या कृष्णमूर्तिजी जैसे बनो ! कितने नाम लूं। किसी न किसी के "जैसे" बनो !

क्यों भाई ? किसी के जैसे बनें ? हम जो हैं–वैसे ही क्यों न रहें ? "अपने भीतर जो सम्भावनायें, क्षमतायें पड़ी हैं, उनका खिलना, पनपना,

विकसना, फूलना-फलना, उनका विस्तार, उनकी अभिव्यक्ति तुम करो"– ऐसा कोई नहीं कहता।

दो चीजों का आज महत्त्व नहीं रहा–एक–जीवन का दूसरे स्वातन्त्र्य स्वाधीनता का। धनार्थी, मानार्थी, कामार्थी, प्रतिष्ठार्थी बहुत दिखते हैं, जीवनार्थी कोई नहीं। जो वस्तुतः उपकरण हैं वे साध्य हो गये हैं, और जो साध्य है वह उपेक्षित है। हम स्वयं को ईमानदारी से देखें। (Let us be very honest to ourselves) एक तो जीवन का महत्त्व नहीं, दूसरे स्वातन्त्र्य का महत्त्व नहीं हमें। सुरक्षा का महत्त्व अधिक है। (security is more important than freedom or inner independence) इसलिए अपने भीतर की मानवता का पूर्ण विकास नहीं होता, मानवता कुण्ठित होती है। उसे कुण्ठित होते हुए हम देखते है—असहाय, लाचार, विवश हो कर। किसी तरह जोड़-तोड़ करते जीते जाते हैं हम। जीवन से समझौता, स्वाधीनता से समझौता, अपने को जो दिखता है, समझ में आता है उससे भी समझौता करते जाते हैं। ऐसे ही वर्षों पर वर्ष बीतते जाते हैं, और कभी-कदास—वृद्धावस्था में ख्याल आता है कि जीवन हाथ से निकल गया।

प्रश्न—समाज "निकोप" कैसे बनेगा। समाज में हिंसा-वैर-प्रतिशोध-क्रोध-द्वेष दिखाई देता है। यह सामाजिक जीवन क्रोधमुक्त कैसे बने?

उत्तर--सत्सङ्गशिविर में ऐसी चर्चा हो सकती है या नहीं?—मुझे पता नहीं। पर आप को हर्ज न हो तो मुक्तता से हम इस सवाल को देखें। आज समाज में हिंसा-वैर-द्वेष-अशान्ति है। सच है। समाज मानों सड़-गल गया है, विकृत हो गया है। (It is a rotten society, nearly neurotic society) यह समाज जीवन फिर से सुधरे कैसे? क्रोधमुक्त अहिंसक कैसे बने?

प्रश्न का अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों पर विचार करना होगा। सांगोपांग विचार अभी नहीं हो सकेगा (क्योंकि यह प्रश्नोत्तरी की सभा है) पहले बहिरंग देखें। मनुष्य मनुष्य के नाते रह सके—जी सके ऐसी समाजरचना, अर्थरचना, राज्यव्यवस्था जब तक हम निर्माण न कर पायें, तब तक समाजजीवन "निकोप" कैसे बनेगा? उदाहरण लीजिए–आर्थिक जीवन में यदि देशों-देशों में परस्पर शोषण हो, जमातों के जीवन में और व्यक्तियों के जीवन में परस्पर शोषण हो। (The whole economic structure—global, international, national, social-based

on exploitation) पूरे विश्व का, आन्तरराष्ट्रीय, राष्ट्रीय, सामाजिक आर्थिक ढाँचा ही यदि शोषण पर खड़ा हो, तो समाज में से-वैर-विक्षोभ-ईर्ष्या-द्वेष-हिंसा क्या हाथों में झाँझ मंजीरा पकड़ने से निकल जायेगा ? इकतारा-करताल से जायेगा ? पाँच बार नमाज पढ़ने से जायेगा ? नहीं, मानवोचित आर्थिक सम्बन्ध निर्माण करने पड़ेंगे । उत्पादक और उपभोक्ता—ऐसे दो वर्गों में बाँटा गया यह समाज और राष्ट्रों के बीच व्यवस्थापक व दलाल वर्ग की शृंखला (managerial class, chain of middle men) खड़ी है । ये लोग व्यवस्था के नाम पर–दलाली agency, के नाम पर उत्पादक और उपभोक्ता दोनों से अन्याय करते हुए अपनी चाँदी बनाते हैं—धनी, सम्पन्न होते जाते हैं ।

This is the story of economic structure in the democratic countries today.

एक कदम और आगे चलें । जब तक उद्योग धन्धे और उत्पादन का, उत्पादन के वितरण का, आर्थिक शक्ति का, केन्द्रीकरण (Centralisation of production, distribution & economic power) रहेगा, तब तक हम शोषण रोक नहीं सकेंगे । मैं गान्धीदर्शन का विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त कहने यहाँ नहीं आयी हूँ । गान्धीजी जहाँ तक जा कर रुके, वहीं हमें भी रुकना जरूरी नहीं है, किन्तु बहिरंग में शोषण का मूल कहाँ है ? —यह देख रहे हैं हम ।

तीसरा मुद्दा—आज राज्य संस्था, और राज्य का प्रतिनिधित्व करने वाली सरकारें (the institution of state, and the governments representing the state)—इन दोनों के हाथ में सत्ता आ गई है; गणोंके—जनता के—लोगों के हाथ से सत्ता निकल गयी है । कहने भर को—"सर्वोच्च सत्ता जनता में स्थापित है ("The supreme power vests in the people")—पर वास्तव में वैसा नहीं है । जब इस सत्ता का हस्तान्तरण जन-जन को होगा—जनता के हाथों (devolution of power) में सत्ता स्थापित की जायेगी—तब इन वैर-विक्षोभ-ईर्ष्या का तीसरा कारण भी निकल जायेगा । United Nations संयुक्त-राष्ट्रों की शान्तिसमिति ने जब विश्वशान्ति—मानसिकशान्ति पर बोलने को मुझे बुलाया था, (World peace—Psychological Peace) तब मैंने कहा था—The Economical & political dimensions of peace the psychological dimensions of peace पर पूरे विश्व में विचार-

गोष्ठियाँ—चर्चायें आयोजित करनी चाहिये, इस पर मुक्त चर्चा होनी चाहिये। सरकारों का सन्धियों—सुलह समझौतों या करारों से विश्व-शान्ति होने की नहीं। सामाजिक जीवन को अहिंसक व शोषणमुक्त बनाने के लिए पहले बहिरंग को देखना होगा—अर्थरचना, उद्योगरचना, उत्पादक-उपभोक्ता-सम्बन्ध—इस सब में नवीन दृष्टि लानी होगी। जहाँ पर पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, सर्वोदय—आदि थक कर रह गये होंगे–वहीं थम जाने से काम नहीं चलेगा।

मुझे जीवन जीने में इतना आनन्द आता है कि जहां नजर डालो वहाँ आह्वान ही आह्वान है, चुनौतियां मुंह बाये खड़ी हैं (The horde of challenges, & every challenge is a love letter from the Divine) प्रत्येक चुनौती "प्रभु" का प्रेमपत्र है ! कि थमो नहीं, रुको नहीं। तुम में जितनी भी सृजन की शक्ति हो उस की मदद से कदम आगे बढ़ाते चलो "चरैवेति चरैवेति।"

अब अन्तरंग को ओर देखें। वैर-ईर्ष्या-द्वेष की जड़ें (मूल) कहाँ हैं ? जैसे बहिरंग के मूल समाजरचना में हैं। वहाँ से इन्हें निकालने का प्रयत्न पश्चिमी देशों में हुआ। भारतीय संस्कृति में इस के अन्तरंग का विश्लेषण हुआ और देखा गया कि इसकी जड़ें व्यक्तिचेतना में हैं। वहाँ से ये निकालनी चाहियें। पर व्यक्तिचेतना में से इन्हें निकालने के उपाय बड़े अवैज्ञानिक प्रचलित हुए कि—ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध को निर्मूल करने के लिये घर छोड़ो ! कुटुम्ब छोड़ो ! समाज-सम्बन्ध छोड़ो ! संन्यास ले लो ! अरण्यों में—हिमालय में चले जाओ। नहीं तो, आश्रमों-मठों-मन्दिरों में जा रहो ! वहाँ बैठ कर अपने चित्त में से यह सब निकाल डालो। यानि कि "समाज में रहते हुए, गृहस्थाश्रम में रहते हुए, जहां आप हैं वहीं रहते हुए ये ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध-मोह निर्मूल नहीं किये जा सकते !"—ऐसा अर्थ कोई उन 'परिव्रज्या-विधानों का निकाले तो अनर्थ नहीं होगा ? और जब समाज में ९९ प्रतिशत गृहस्थाश्रमी हों, तब अपनी-अपनी आजीविका चलाते हुए, खेती-व्यापार-शिक्षा-अन्य श्रमकार्य आदि करते हुए यदि मनुष्य अपने भीतर की हिंसा-ईर्ष्या-द्वेष निकाल बाहर न कर सके, इनकी जड़ें उखाड़ न सकें, तब तो अध्यात्म और चेतना का शुद्धीकरण मुट्ठीभर लोगों की 'जागीर' हो जायेगी। एक तरफ राजनैतिक अधिकारवाद, दूसरी ओर आर्थिक अधिकारवाद और तीसरी ओर आध्यात्मिक साम्राज्यवाद खड़ा रहेगा।

मित्रो, पिछले पैंतोस वर्षों से विश्व के कम से कम चालीस देशों में मेरा भ्रमण हुआ है, समाज के विभिन्न स्तरों (cross-sections of society) के लोगों से सम्पर्क आया है, इसलिये मैं जो कुछ कह रही हूँ—इसके पीछे बहुत व्यथा है। ये मुँह—देखे उत्तर नहीं हैं। आपने यह सवाल उठाया है अतः इसकी जड़ तक पहुँचना जरूरी है।····

इस प्रश्न का अन्तरंग यह है कि मानवीय सम्बन्धों में, समाज में सबके साथ जीते हुए, इन सम्बन्धों को साधन बना कर हम अपने भीतर से हिंसा की जड़ें उखाड़ कर बाहर कर सकते हैं या नहीं ? वह कर सकें तो ही समाजजीवन का अन्तरङ्ग (The inner core, the fiber) शोषणमुक्त-हिंसामुक्त-शान्त हो सकेगा। अन्यथा लाखों साधु हैं—नामान्तर, वेशान्तर, ग्रामान्तर किये हुए; हजारों संन्यासी हैं, मठ-मन्दिर हैं—फिर भी आज समाज की दशा क्या है—आप देख ही रहे हैं। इसी में हम जी रहे हैं ! यदि समाज का अन्तरंग अहिंसक, अशोषक, मैत्रीमय बनाना हो तो हमें अपने जीवन में, भीतर चित्त में जो हिंसा-क्रोध-द्वेष-ईर्ष्या के मूल पड़े हैं उन्हें खोजकर निकाल फेंकना होगा।

ये सब दोष अपने भीतर कहाँ ? किस बिन्दु पर शुरू होते हैं ? यह खोजने लगें तो पायेंगे कि जहाँ पर हमें डर जाने--आग्रह रखने की जरूरत महसूस होती है—"मैं कोई हूँ ! लोगों को यह मालूम होना चाहिये"—ऐसा आग्रह चित्त में उठता है—और लोगों के ध्यान में यह ला देने के लिये हम जान बूझकर कोई व्यवहार करते हैं—वहीं आग्रहात्मक बर्ताव (assertive behaviour) शुरू होता है।

दूसरा मुद्दा--जब हम अपनी तुलना दूसरों से करने लगते हैं—"मैं कैसा हूँ ? वह कैसा है ? मेरी अपेक्षा उसमें कुछ अधिक है ? कुछ अलग है ? अधिक या कम रूप-गुण-विद्या-धन-सत्ता आदि है ?"—निरन्तर तुलना चलती है। धर्म-स्थान में जाने पर भी यही वृत्ति रहती है। घर में भाई-बहनों-देवरानी-जेठानी-ननद आदि से तुलना करते हैं और मठ-आश्रमादि में गये तो गुरुभाई-गुरुबहनों में वही चलती है। अपने जीवन के प्रति यह तुलनाभरी वृत्ति ही समस्त दुःखों की जननी है (The comparative approach to one's life is a furtile soil to all misery.) "मैं उसके जैसा क्यों नहीं ? उसके जैसा कैसे बनूं ?" (Instead of being what you are, you indulge in the process of becomming like someone else ! Whoever that else

would have been,—Buddha-Christ-Krishna or what have you !)

वह दूसरा कौन है—इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। बीमारी है "दूसरे जैसा बनने" की इच्छा !

एक तो "मैं कुछ विशिष्ट हूँ" यह दूसरों को दिखाने-जतलाने का आग्रह ! आप विशेष हों—इसमें कोई बुराई नहीं। उस विशेषता को भलीभाँति खोल कर जीवनकर्म में व्यक्त किया जाय तो उससे जीवन का ऐश्वर्य बढ़ेगा ही। पर उसे कोई देखे ! कोई दाद दे ! प्रशंसा करे ! स्वीकार करे ! और कहे कि "हाँ आप सचमुच विशिष्ट हैं।"--इसकी लालसा रहती है। अपने में विशेषता है—इससे सन्तोष नहीं, कोई मुँह खोल कर बखान करे ! कहे कि "आप बड़े गुणी हैं।" यह आग्रह चित्त में रहता है। दूसरे—तुलना चलती है। इन्हीं दोनों में से स्पर्धा-ईर्ष्या-वैर-मत्सर उत्पन्न होते हैं, महत्त्वाकांक्षा का जन्म होता हैं। फिर उस "किसी के जैसा बनने" की प्रक्रिया में मनुष्य 'अहमहमिका' ("मैं आगे" "मैं आगे" की भावना व प्रतिस्पर्धा) से आगे बढ़ता जाता है। इसके पीछे चलूँ, उसके पीछे चलूँ, झूठ बोलना पड़े, रिश्वत देनी पड़े तो चिन्ता नहीं, खुशामद करनी पड़े, किसी का नुकसान करना पड़े तो हर्ज नहीं,–'येन केन प्रकारेण' जैसे भी बने वैसे अपना काम निकालने की बात सोचता है। आग्रह, तुलना, स्पर्धा और उसी में से फिर आक्रामकता आती है। हिंसा के मूल जानना चाहते हैं न ? हिंसा का मूल इस स्वकेन्द्रित वृत्ति में ही है। उस 'स्व' को, अहंकार को सम्हाल कर बचा कर रखे रहना चाहते हैं। उसकी आग्रही-तुलनात्मक-स्पर्धाशील-आक्रामक वृत्तियों को बनाये रखते हैं और कहते हैं कि जगत् में हिंसा नहीं रहनी चाहिये; ईर्ष्या-द्वेष नहीं रहने चाहियें, शोषण न रहे ! कैसे होगा यह ?

मुझे याद आता है,—एक आन्तरराष्ट्रीय शिबिर में, शायद पोलेन्ड में—जब मैंने कहा कि अहंचेतना ही समस्त हिंसा की जड़ है, तब वॉरसॉ युनिवर्सिटी के अनेकों प्राध्यापक लोग खलभला उठे थे—"यह क्या कहती हैं आप !" यानी रहना है मन की भूमिका पर, अहं की कल्पना से चिपके हुए, अतथ्यरूप-असत् रूप 'अहं' के अध्यास को बनाये रखते हुए जीना चाहते हैं; क्योंकि उसमें सुख प्रतीत होता है, सुरक्षा लगती है। चेतना को अनावृत नहीं होने देना है। उसके आवरण बनाये रखने हैं। अहंकार की वे परम्परागत आदतें बड़ी दृढ़ हो चुकी हैं, गहरी

धंस चुकी है। पर आखिर वे पुरानी आदतें ही हैं। आग्रह-तुलना-स्पर्धा आदि सब मानसिक आदतें है। इन्हें बनाये रखते हुए सामाजिक तो क्या, पारिवारिक जीवन भी शोषणमुक्त, क्रोधरहित नहीं बन सकता। अरे व्यक्ति स्वयं ही अहिंसक नहीं बनेगा तो औरों की क्या कहें !

अर्थात् यह संरचनागत संकट है। केवल आर्थिक-राजनैतिक-सामाजिक ढाँचों में ही यह रोग नहीं, अपनी भीतरी संरचना में ही—"मैं पन" का विष घुला हुआ है। उसका बड़ा अमला-फैला है,—उसके स्व-बचाव की वृत्ति, आत्मसमर्थन, (Defence mechanism) आयुध-अस्त्र-शस्त्र सब भीतर तैयार हैं और हम बच्चों को बचपन से ही वह सब सिखाते रहते हैं। उस किले में बैठे रहते हैं हम।····आज इसी घड़ी में उस सवाल को हल किया जा सकेगा--यह कहना नहीं है; परन्तु सामाजिक चेतना में--संरचना में ही संकट पड़ा हुआ है (उसे व्यक्तिगत कैसे कहें) पूरी मानवजाति के मानस में जीवन की पहली दहलीज में ही वह संकट खड़ा है। (The problem, the crisis is in the human social consciousness, in the fringes of life) सामूहिक जीवन में व्यवहार में वह तरह-तरह से व्यक्त होती है, पर जो व्याधि है वह चेतना में पड़ी है। वहाँ से निकालनी होगी।

मन से ऊपर उठने का, मन के पार जाने का जो पुरुषार्थ है, उस पुरुषार्थ की आज के वैश्विक एवं वैयक्तिक प्रश्नों-समस्याओं से कैसी संगति है, कैसा अनुबन्ध है—यही आप को बता रही थी।

प्रश्न—शब्दातीत जीवन की पहचान सतत कैसे होती रहे ?

उत्तर—शब्दातीत जीवन का अर्थ है जिसका निर्माण मनुष्य ने नहीं किया। पृथ्वी मनुष्य ने नहीं बनायी, आकाश भी नहीं बनाया। सूर्य-चन्द्र-तारा-नक्षत्र अनगिनत-सौरमण्डल और इनके परस्पर संकुल सम्बन्ध कुछ भी मनुष्य ने नहीं रचे।

(The infinite universes, infinite solar systems & the infinite sourses contained in those universes, the inter-relationship among them, they are not manmade.)

एक कण बीज पृथ्वी में डालते हैं उसमें से मन भर उपज होती है—यह जो उर्वरा शक्ति उर्वी (पृथ्वी) में है वह हमारी रची हुई नहीं, उसे थोड़ा बहुत बढ़ाने की युक्तियां (वह भी निसर्ग में वर्तमान शक्तियों

के ही जोड़-तोड़ बैठा कर) भले मनुष्य ने निकाली हों।''''तो चहुँओर व्याप्त विशाल निसर्ग को देखते हुए, शब्दातीत जीवन सत्ता की पहचान कठिन कैसे है ?

कल हमने देखा था कि मनुष्य संस्कृति, दर्शन, तत्त्वज्ञान, पराभौतिकी विज्ञान आदि नामों से कैसी कल्पनायें—प्रतीक, घरौंदे बनाता है ! अतः पहले हमें यह समझ लेना होगा कि जो कुछ दिखता है उससे परे भी जीवन है। आप अङ्कगणित जानते हैं, गिनती गिनते हैं—एक-दो-तीन-चार''''। ये अङ्क-संख्या-गणना-कलना क्या जीवनसत्ता के भाग है ? इनका निर्माण मनुष्य ने किया है न ! सत्ता एक है, विराट् है, अमाप हैं। उसमें ये नाप-तोल-संख्या मनुष्य ने खड़े किये। व्यवहार-व्यवस्था के लिए इन नाप-तौलों का उपयोग करके अंकगणित, बीजगणित, भूमिति बनाये। एक बिन्दु रखा, उसे लम्बा कर दिया--रेखा बनी (Line is nothing but extension of a point) रेखाओं द्वारा ही फिर आपने त्रिकोण, षट्कोण, आयत-वर्ग-अष्टकोण, पंचकोण आदि सब बनाये। मनुष्य की बुद्धि का ऐश्वर्य है, क्रोड़ा है वह ! पर ये जो त्रिकोण से सहस्रकोण तक के सब कोण हैं—यह कल्पना मानव-मस्तिष्क की है। जीवन की एकरस, अखण्ड, अविभाज्य सत्ता में गणना-कलना-संख्या कुछ भी नहीं हैं।

अब आप विचार कीजिये कि जिसने यह सब खेल किया, उसी बुद्धि द्वारा यह चिन्तन करना और पहचानना कि जीवन की सत्ता इस सबके परे भी है--कठिन क्यों है ?

शिशु का जन्म हुआ, उसे कुछ नाम दिया, ताकि अन्यों से अलग उसे पहचाना जा सके। वह आया तब तो एक सजीव शरीर ही था। फिर उसे बार-बार उस एक ही नाम से बुला-बुला कर पुचकार कर संकेतों से समझा दिया, सिखा दिया कि यह शब्द तेरा नाम है--"तू 'हरि' है। 'हरि' कह कर बुलायें तो तू बोलना।" नाम दिया हमने अपनी सुविधा के लिये, फिर उस शब्द से, नाम से उस व्यक्ति की तदात्मता बांध दी, उसे सिखा दिया वह तादात्म्य। देह के गुणों का मूल्यांकन करते हैं हम अपनी बुद्धि के अनुसार, और उस बच्चे को सिखाते हैं—"तू गोरा है", 'सुन्दर है', 'तू काला है', 'तू होशियार है' 'तू मूर्ख है'—इत्यादि। जीवन क्या काला, गोरा, चतुर, मूर्ख होता है ?

आपका मकान या कमरा लम्बा-गोल-चौकोर हो सकता है, पर उन दीवारों से घिरा होने पर भी आकाश या वायु लम्बा-गोल-चौकोर नहीं होता। यदि चिन्तन करें तो यह बात समझ में आ सकती है। हम बच्चों को नाम-देह-गुण आदि मे तदात्मता सिखाते हैं, व्यवहार की विशिष्ट पद्धतियाँ सिखाते हैं, आदतें डलवाते हैं।

इन सबसे तदात्मता पक्की होते-होते फिर उसे लगता है "मैं कुछ हूँ। मैं ऐसा हूँ, दूसरे ऐसे हैं।" इस शरीर में जैसे अन्य सबसे पृथक्ता है, वैसे भीतर भी "राधा"–"मीरा"—"गोविन्द"-"हरि"–"फातिमा"–"महमूद"–"जौन्सन-आन्ना" ये चेतना में कोई अलग व्यक्तित्व बैठे हैं यह माना जाता है। शरीरों में तो आकृति-रंग-वयस् आदि से अलग व्यक्तिता होती है, वह दिखती है। पर भीतर जो चैतन्य है—जो आँखों से देखता—कानों से सुनता, हाथों से स्पर्श करता–लेता-देता—मुख में स्वाद लेता-बोलता है—उस चैतन्य में तो कोई पृथक् व्यक्तिता नहीं है। कमरे की दीवारों में खिड़कियाँ, दरवाजे, आलमारी आदि हैं, पर आकाश में कोई खिड़की-दरवाज़े आदि नहीं हैं। किन्तु शैशव से लेकर बड़ा होने तक निरन्तर जो तदात्मता नाम-देह-गुण आदि के साथ बाँधी गयी है, वह भीतर ऐसी गहरी पैठ चुकी होती है कि वृद्धावस्था तक मनुष्य को भान नहीं आता कि इस शरीर और इसके सब गुण-धर्मों सुख-दुःखादि से मैं कुछ अलग हूँ।

"भासे देहाध्यास से आत्मा देह समान।
पर वे दोनों भिन्न हैं जैसे असि और म्यान!"

(श्रीमद् राजचन्द्र)

तलवार और म्यान में जैसी गुणात्मक भिन्नता है, वैसी ही भिन्नता है आत्मतत्त्व और शरीर तथा उसमें व्यक्त गुण-दोष आदि से। पर हम भूल चुके हैं कि "मैं"–पन (अहन्ता-अस्मिता) तो एक प्रतीक है। इसमें कोई वास्तविकता नहीं है। जैसे कि अंकों में वास्तविकता नहीं, घड़ी द्वारा दिखाये जाते हुए समय में, समय के नापों में वास्तविकता नहीं है, व्यवहार चलाने भर की 'तथ्य'-ता है, "सत्यता"-या अस्तित्व नहीं है, इनका उपादान मनुष्य की कल्पना, विचार या भ्रम के सिवा कुछ नहीं है।

क्या-क्या मनुष्यनिर्मित है और क्या मनुष्यनिर्मित नहीं है--इसका यदि बैठ कर विचार किया जाय तो जो मनुष्यनिर्मित नहीं, जिसे

शब्दातीत-रूपातीत-नामातीत कहा गया है—उसका सहज ही भान हो जायेगा। पर यदि अपनी देह से परे की ओर देखें ही नहीं, देह के गुण दोष-देह सम्बन्धी वस्तु-प्राणी-मनुष्यादि की चर्चा, चिन्तन, आत्मश्लाघा-परनिन्दा, तुलना-स्पर्धा आदि में ही पड़े रहें, आँख खोलकर भीतर-बाहर चारों ओर नजर ही डालें, कभी बीज न बोये हों, बीज से अङ्कुर फूटते, पौधा बढ़ते-फलते-फूलते न देखा हो, किन्हीं पशु-पक्षी आदि को निकट से देखा न हो, उनसे सजीव सम्बन्ध न बाँधा हो, वनस्पतिजगत्, प्राणी-जगत्, नदी-पर्वत-पर्वत-सागर-सूर्य-चन्द्र आदि किसी को भी आँख भर देखा न हो—इनका "साथ" महसूस न किया हो—तो शब्दातीत अखण्ड जीवन-सत्ता का भान न होना शक्य है।

एक निसर्ग का निरीक्षण, दूसरा मानवकृत सृष्टि एवं व्यवहार का परीक्षण, तीसरे—इन दोनों के विषय में मनन-चिन्तन करें तो तथ्य जाना जाता है, सत्य से उसका अन्तर समझ में आता है, तथ्य—इन्द्रिय-गोचर सृष्टि (Fact which can be grasped through the sense-organs.) इन तथ्यों से संकेत मिलता है सत्य का। (The Truth) संकेतों से भी परे जो ऋत की सत्ता (Reality) है, उसका भान आता है।

देखिये, आपको अपना नाम, अपना गाँव-घर (तथा प्रदेश व देश) कभी भूलता है क्या ? इस समय यहाँ महाबलेश्वर में बैठे हैं, तो क्या वह सब भूल गया है ? प्रतिक्षण उसकी याद भले न आती हो, पर उनका विस्मरण नहीं हो गया है। You are not conscious of that, but are aware of it. यहाँ चेतन मनमें "मैं अमुक हूँ, अमुक स्थान से आया हूँ"—ऐसा अपने आप से आप कहते नहीं रहते। पर उसका अवधान भीतर चेतना में ओतप्रोत रहता है। यह उन तदात्मता के संस्कारों के कारण ही है न ! इसी प्रकार छुटपन से लेकर घर में माता-पिता, विद्यालय में शिक्षक (अन्य पढ़ाई के विषयों—शरीरविज्ञान, भौतिकी, रसायनशास्त्र, स्वास्थ्य-विज्ञान, गणित, भाषा, साहित्य इतिहास, भूगोल इत्यादि विषयों के समान) यह भी सिखायें (सिखाने के विषयों में यह भी शामिल कर दें) कि मन क्या है ? बुद्धि क्या है ? विचार स्मृति-भावना-संवेग क्या हैं ? ये कैसे काम करते हैं ? पूरे मस्तिष्क की संरचना में उत्पत्ति एवं कार्यपद्धति क्या है ? शब्द क्या है ? नाद क्या है ? मौन क्या है ? इन मन-बुद्धि-इन्द्रिय-शरीर से विलक्षण पृथक् तुम स्वयं कौन हो ? चेतना

के कितने स्तर एवं आयाम हैं ?—इत्यादि यह सब क्यों न सिखाया जाय बच्चों को ? पाँचवीं कक्षा के बाद से धोमे-धीमे, सरल पद्धति से यह सिखाया जा सकता है। सबका परिचय कराया जा सकता है। तब बच्चों को मालूम पड़ेगा कि विश्व में क्या-क्या मनुष्य ने बनाया है ? इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध कैसा हो सकता है ?····(The mystery of self-generated relationship among everything that exists & lives) भगवत्सत्ता या परमात्मा और कुछ नहीं, सृष्टि में जो कुछ है उनका जो परस्पर सम्बन्ध है, परस्पर-अवलम्बन है, परस्परोपजीविता है इसके रहस्य को ही हम "भगवत्सत्ता" कहते हैं!—इसकी पहचान यदि विद्यालयों के पाठ्यक्रम शिक्षण-क्रम में ही शामिल कर दी जाय तो फिर उसके लिये कोई अलग प्रयत्न नहीं करने पड़ेंगे।

आज तक यह पृथक् प्रयत्न करना पड़ता रहा है क्योंकि बचपन से यह शिक्षण मिला नहीं। और, समाज में रहते हुए यह शिक्षण लिया जा सकता है। प्रतीकों के साथ रहते हुए, प्रतीकों का उपयोग करते हुए, इन प्रतीकों के परे जो है—उसका अवधान, अनुसन्धान रखा जा सकता है। यह यदि सिखाया जाय तो वह पहचान रहेगी। फिर वह जो शब्दातीत, नामातीत, रूपातीत हैं उसके प्रति प्रेम जागेगा, आत्मीयता प्रतीत होगी; उसका भय नहीं लगेगा। ज्ञात से चिपके रहकर इसमें आसक्ति बढ़ायेंगे नहीं। फिर हमें मालूम रहेगा कि ज्ञात तो अत्यन्त विशाल अज्ञात का छोटा-सा कोना भर है। 'अज्ञात-अज्ञेय-रहस्यमय'—जीवनसत्ता के हम अंशमात्र हैं। हम उसी में से हैं, उसी के हैं।

मैं नयी बात क्या करूँगी ! भारत के, महाराष्ट्र के सन्त वह सब कह ही गये हैं। हम भूल गये हैं। ज्ञानराय कहते हैं—"सामने सागर पर ये बड़े-बड़े तरङ्ग दिखाई दे रहे हैं। कोई कहे जाओ तो जरा—मुट्ठीभर तरङ्ग ले आओ।····बहुत युक्ति लगाकर भी तरङ्ग लेने जाओगे तो हाथ में पानी ही आयेगा। ऐसे विषयों को पकड़ने जाओगे तो हाथ में आयेगा आत्मतत्त्व ही !" "विषय सभी तो हुए नारायण !"—ऐसी स्थिति हुए बिना न रहेगी। यह तो गणित के सिद्धान्त जैसी सिद्ध बात है—२+२=४ ही होंगे।

"इन्द्रियों को पड़ी यह आदत, नारायण-सिवा नहि कछु दीखत !" विषयों में जो रस प्रतीत होता है, वह वही "रसानां स वै रसः" है। अतः उस परमरस के सेवन के लिये यह विषयसेवन साधन, निमित्त बन जाता है, साध्य नहीं रहता। इसीलिये विषयों का भोग भी नहीं करना

पड़ता, त्याग भी नहीं। एक संयम के सूत्र में पिरोये मोतियों की तरह सब वैषयिक व्यापार चलते हैं। भारतीय संस्कृति संयम का महाकाव्य है। भोग से मनुष्य बाँधा जाता है, त्याग से और भी अधिक बाँधा जाता है। संयम के सौन्दर्य से सजा हुआ जीवन, सहजता की ऋजुता से मण्डित जीवन सबके लिये सुलभ बन जाता है। हमने उस तरफ़ ध्यान दिया नहीं, और जीवन को अध्यात्म से अलग रखा है। जीवन को दो सत्ताओं में बाँट दिया कि "यह अध्यात्म का क्षेत्र है और यह व्यवहार का क्षेत्र है। दोनों में अलग सत्ताओं की बात होगी।" वस्तुतः जीवन में दो सत्तायें नहीं हैं। पर हमने दो सत्ताओं के अलग मूल्यांकन, अलग आचार-संहितायें बनायीं। अत्यधिक जटिलता भर दी व्यवहार में। जटिलता आयी तो कुटिलता भी आयी। अन्यथा जीवन अत्यन्त सरल है।

●

- **जीवन का विभाजन बड़ा अवैज्ञानिक है।**
- **जीवन को खण्डित करना ही पाप है, बन्धन है; और उसको समग्रता में उसे देखना यही मुक्ति है।**
- **मनुष्य जीवन को टुकड़ों में बाँटता चला। भिन्न-भिन्न मूल्यों के ढेर लगा लिये। व्यक्तिगत-सार्वजनिक, व्यावहारिक-आध्यात्मिक, राजनैतिक-आर्थिक मानवीय—इन मूल्यों में किसी का किसी से (परस्पर) सम्बन्ध न रखा।**
- **मूल्यों की जितनी विभिन्नता, विविधता, विसंगतियां, उतने ही तनाव। फिर सरकस के तार पर चलने की तरह सबमें सन्तुलन साधते फिरना!—इससे जीवन की सुन्दरता नष्ट हो जाती है।**
- **अनेक-सत्तावाद से भारतीय जीवन की बड़ी दुर्दशा हुई है।**

प्रश्नोत्तरी

दि० २७/१/८८ सुबह

प्रश्न—जीवन में आने वाले दु:खों का सामना कैसे करें ? बीमारी, वृद्धावस्था का एकाकीपन, स्वजनों की मृत्यु—ऐसे दु:खों से किस तरह पेश आयें ?

दु:ख, क्रोध व शोक से मुक्ति कैसे मिले ?

उत्तर—दु:ख को यदि हम पीठ न दिखायें, उनसे भागना न चाहें, तो दु:ख झेलने की, दु:ख को भी जी जाने की शक्ति आती है। हम दु:ख से डरकर उससे भाग जाने का जो प्रयत्न करते हैं, तथा,सुख का आग्रह चित्त में रहने के कारण दु:ख के प्रति जो एक तिरस्कार या उपेक्षाभाव रहता है, उसके कारण हमें दु:ख जीना नहीं आता। जीवन जीने के लिये है। और जीने का अर्थ है—जो सामने आया उसकी ओर देखकर, उसे समझकर उससे परे जाना।

इसके लिये एक तो सुख का आग्रह नहीं होना चाहिये। पारमार्थिक दृष्टि से देखें तो "अनुकूल-संवेदनं सुखम्, प्रतिकूलवेदनं दु:खम्"।—इसमें फिर अनेक स्तर हैं। इन्द्रियों की, शरीर की अनेक मर्यादायें हैं; उन्हें जीते समय कोई संवेदन अनुकूल होते हैं कोई प्रतिकूल पड़ते हैं। शीत उष्ण सहन करने की सीमा है, ऐसी अनेक क्षमताओं की सीमायें हैं। उनसे आगे बढ़कर जब प्रतिकूलता सामने जाये तब उसमें से भी गुजरना तो पड़ेगा ही। हम जीवन की योजना अपनी ओर से बहुत-कुछ ऐसी कर सकते हैं कि प्रतिकूलताओं में से जाना न पड़े, व्यवस्था कर सकते हैं। पर यह निश्चित नहीं मान सकते कि बीमारी कभी आयेगी नहीं।

अच्छी तरह योगाभ्यास किया हुआ शरीर हो, विजनवास में, गुफा में रहनेवाला व्यक्ति हो तो उसके बारे में मुझे कुछ नहीं कहना है, पर समाज में, वह भी आज के प्रदूषित वातावरण में, जीनेवाले अधिकांश व्यक्ति शरीर के व्याधि अवश्य टाल सकेंगे यह नहीं कहा जा सकता। इसलिये अधिकतर आरोग्य है, तो कभी रोग भी आ सकता है। शरीर में ही किन्हीं आनुवंशिक व्याधियों के बीज पड़े हों तो कभी न कभी वे प्रकट हो सकते हैं। अतः आरोग्य की योजना, व्यवस्था करें, पर यदि रोग आ ही गया तो उसे जी लेने की हिम्मत रखें। रोग से हिचकने,

भागने (Resist करने) में मुझे लगता है कि दुःख बढ़ता है। आप टाल नहीं सकते—न सुख को, न दुःख को ! द्वैत का पसारा है यह संसार। उसमें कभी संयोग होगा, कभी वियोग होगा। स्वजनों का वियोग होगा और जो हमसे ईर्ष्या या शत्रुता रखते हैं उन लोगों का संयोग भी होगा।—ऐसे संयोग-वियोग में से, आधिव्याधि में से गुजरना पड़ेगा। कल मैंने कहा था कि समग्र जीवन का बिनाशर्त सम्पूर्ण स्वीकार यह अध्यात्म का आशय है, किन्तु हम चुनाव करना चाहते हैं (Selective बनते हैं) हमें लगता है कि "मेरे हिस्से में केवल सुख ही आना चाहिये।" यह जो सुख का आग्रह है, यही दुःख की भूमिका तैयार करता है।

इसलिये जीवन में योजना-व्यवस्था भले हो, पर सुख का आग्रह और दुःख से पलायन न हो। "अनाग्रहो नाम प्रथमं बुद्धिलक्षणम्।" इन दो के आगे तीसरा कदम है—अपेक्षा नहीं होनी चाहिये। कुटुम्ब के लोगों को हम अपनी अपेक्षाओं के धागों से कसकर बाँध रखना चाहते हैं। हमारी सन्तान हमारी प्रतिकृति (Carbon copy) हो—हमारी अपूर्ण इच्छायें, महत्त्वाकांक्षायें वे पूर्ण करें—ऐसी हमारी वासना रहती है। इसलिये यदि वे अलग ढंग से चलें तो हमें दुःख होता है। पति को पत्नी से अमुक तरह से व्यवहार करना चाहिये और पत्नी को पति से अमुक रीति से ही व्यवहार रखना चाहिये—ऐसी परम्परायें हैं। हम मनमें उनकी गाँठें बाँधे रहते हैं और उनके अनुसार व्यवहार नहीं मिला तो दुःख होता है।

यदि कोई अपेक्षा रखी ही न हो तो ! दुःख क्यों होगा ? हमें जो उचित लगता है, रुचता है, समझ में आता है, जिसमें आनन्द आता है वह हम करते हैं। "मैं इतने प्रेम से बर्ताव करता हूँ—पर दूसरे लोग मुझपर प्रेम नहीं रखते !" यह शिकायत क्यों ? आप क्या प्रेम का, सौजन्य का सौदा करने निकले थे ? सत्याचरण का क्या सौदा होता है ? कि इसके बदले में मुझे स्नेह, आदर, सम्मान मिलना ही चाहिये !"… अतः यदि अपेक्षाओं का कलुष चित्त में से निकल गया हो तो—

"अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः"

निरपेक्षता के जल से प्रक्षालित होकर चित्त शुचिर्भूत हो जाता है। तब एक प्रकार की दक्षता आती है। सुख आये या दुःख, कष्ट उठाना पड़े या आराम-विश्राम मिले,—सभी के प्रति मनुष्य सावधानता से तत्पर

रहता है। एक का सम्मुख होकर स्वागत करे और दूसरे से भागे—ऐसा उसके चित्त में नहीं होता। कोई धूर्त-धोखेबाज (लुच्चा) आदमी सामने आया तो उसकी धूर्तता वह पहचानेगा नहीं—ऐसा नहीं। और उसकी दुष्टता से सावधान नहीं रहेगा, उसे अपना नुकसान कर लेने देगा—यह भी नहीं। दुष्टता से अपना रक्षण अवश्य करेगा, सावधान रहेगा। परन्तु मनमें उस व्यक्ति के प्रति धिक्कार, तिरस्कार, उपेक्षा, वितृष्णा आदि नहीं पैदा होगी। यह व्यवहार-दाक्षिण्य, कुशलता रहेगी। "योगः कर्मसु कौशलम् !"

जो कर्म हमें करना है उसे कुशलता से करेंगे। चित्त निरपेक्ष शुचि रहेगा और कर्म करते समय जीवन के अधिष्ठान ब्रह्म ('उद्') में स्थित ('आसीन') रहेगा। "ऊर्ध्वमूल" रहेगा, विचार-विकार-भावना-संवेग-उद्वेग आदि मनोभूमिका से ऊपर उठा—अद्वय जीवनसत्ता में—सच्चिदानन्द में प्रतिष्ठित रहेगा।

उसके चित्त को व्यथा स्पर्श नहीं करती। इसका यह अर्थ नहीं कि वह जड़-बधिर हो जाता है, उस के शरीर को कष्ट नहीं पहुँचता या कोई उसे दुःखित करने का प्रयत्न करे, प्रकट दुःख दे तब उसे दुःख होगा ही नहीं, कष्ट व दुःख की संवेदना ही नहीं रहेगी—ऐसा नहीं। पर होता यह है कि ऐसे व्यक्ति को जिस क्षण में दुःख आया उसी क्षण उस दुःख को (या सुख को) पूरी तरह जी कर उससे मुक्त हो जाता है। उसकी छाया अगले क्षण पर्यन्त ओढ़े-ताने-ढोये नहीं फिरता ! यानी दुःख (या सुख) के क्षण की स्मृति नहीं बनने देता। उस घटना—उस अनुभूति में से उसे जीते हुए गुज़रता है। आँसू आयेंगे, रो भी लेगा, आह निकलेगी, शरीर को कष्ट हो रहा हो तो उसकी अभिव्यक्ति होगी, मन के दुःख की भी होगी--पर उसी क्षण ! अपने आप में ही ! शिकायत बन कर दूसरों के प्रति प्रतिक्रिया नहीं होगी ! सुख हुआ--आनन्द आया तो जी खोल कर हँसेगा भी वह व्यक्ति। पर वह सुख बार-बार मिले ऐसी लालसा नहीं रहेगी। सुख की पुनरावृत्ति की इच्छा दुःख का कारण है। वह पुनरावृत्ति की इच्छा उस व्यक्ति को नहीं रहती। सुख को भोगकर, जीकर उससे मुक्त हो जाता है, और दुःख को भी उतना ही सजीवता से भोगकर उससे भी मुक्त हो जाता है,—"मुझे इतना सुख मिला था !"

उसकी स्मृति नहीं बनने देता "मैंने इतना दुःख भोगा !"—यह गाता नहीं फिरता ! You live the experience so thoroughly

with the totality of your being that nothing gets reduced to the segment of memory. जिस उपादान से संचित—क्रियमाण प्रारब्ध बनते हैं वह मसाला (उपादान) ही वह व्यक्ति बनने नहीं देता ।

आपने पूछा है कि दु:ख-शोक-क्रोध से मुक्ति कैसे मिले ? सो, दु:ख से मुक्ति तो किसी को नहीं मिलती—योगी को नहीं, भोगी को नहीं । सुख-दु:ख में से गुजरना ही पड़ता है सब को ! देहधारी व्यक्ति को अनुकूल-प्रतिकूल संवेदन झेलने ही पड़ते हैं । पर कई सुख-दु:ख को बड़ा होआ बना बैठते हैं, समस्या या बवण्डर खड़ा करते हैं । उस को सौबार कहते फिरते हैं सबको ! मानो ये दु:ख-सुख उनकी सम्पत्ति, मिल्कियत property है । स्मृति में उनका संग्रह करके रखते हैं । अरे, घटनायें आती हैं उन में से पार जाने के लिये । पर उस भूतकाल के भूत को हम पकड़ कर बैठते हैं ।

अध्यात्म जीवन जीने की ऐसी शैली है कि उसमें पहले किये हुए कर्मों व अनन्त जन्मों के जो संस्कार हैं, उन में से आने वाली जो गतियाँ हैं उन्हें मनुष्य जीत लेता है । क्योंकि "प्रारब्धस्य भोगादेव क्षय:"—जो "प्राक् आरब्ध" (पहले आरम्भ किया हुआ) है—देह के गुण-दोष, बुद्धि का शील, चित्त का रस-कस-दम—आदि के रूप में प्रारब्ध खड़ा है । उस का समुचित विनियोग करने से ही क्षय होगा । पर नया प्रारब्ध न बने इस की युक्ति अध्यात्मजीवन में मिलती है । जीते चलो ! पर जीने के किसी भी कर्म में से स्मृति उत्पन्न न होने दो ! तो क्या स्मृति का कोई उपयोग नहीं ? अवश्य है । विद्यालय में अध्ययन कर रहे हैं, उस विषय को भली भांति समझना है, कण्ठस्थ करना है ताकि पूछे जाने पर एवं जरूरत पड़ने पर वह विद्या काम आ सके, पदवी भली भांति मिले, और उस के फलस्वरूप आजीविका-उपार्जन किया जा सके । अत: जो पदार्थज्ञान हम अध्ययन में प्राप्त करते हैं उस का स्मृति में संग्रह आवश्यक है, उस का उपयोग करना पड़ता है । विचार करने की पद्धतियाँ सीखनी पड़ती हैं । मस्तिष्क का परिमार्जन (Sophistication of the brain, the cerebral organ जीवन-व्यवहार में उस का उपयोग करना होगा, वहाँ स्मृति से काम लें । इंजीनियर-डॉक्टर बनना है, Electronics का काम सीखना है, उच्च तकनीकी साधनों (High technological gadgets) से काम लेना है, रसोई सीखनी है....जहाँ-जहाँ भी बुद्धि व शरीर से कुछ सीखना है, शास्त्रीय संगीत सीखना है और जहाँ पदार्थों से सम्बन्ध आने वाला है—ऐसे क्षेत्रों में बुद्धि से ग्रहण करें,

स्मृति में धारण करें, इन्द्रियों से उन का विनियोग करना आवश्यक है, अनिवार्य है। परन्तु मानवीय सम्बन्धों में जीते हुए जो प्रतिक्रिया-आघात-प्रत्याघात हम पर होने वाले हैं, उन में से स्मृतिरूप अवशेष (residue) बनाते चलना—यह दुःख का मूल है।

क्रोध से कैसे मुक्ति मिले? इस का भी उत्तर आ ही चुका है कि अनाग्रह रहे और निरपेक्षता रहे। "मेरे साथ अमुक ही, अमुक पद्धति से ही, अमुक समय ही घटित होना चाहिये" ऐसी अपेक्षा रखते हैं और वह नहीं हुआ तो क्षुब्ध, उद्‌विग्न, परेशान upset; disturbed) हो जाते हैं। जहाँ तक अपने हाथ की बात हो, स्वयं को ही करना हो, तब अवश्य मनुष्य वह कार्य अपने विशिष्ट स्तर (standard) से एवं पूरी कुशलता से करेगा, लेकिन जो काम दूसरों को करना है, दूसरों पर निर्भर है, या दूसरों द्वारा किया गया है उस में शान्त रहना चाहिये, वह जैसा हो उसे स्वीकार करना चाहिये। लेकिन इच्छा के अनुरूप, मन के अनुकूल काम न होने पर, फल न मिलने पर चिढ़ने-बिगड़ने-चिड़चिड़ाने की आदत मस्तिष्क (a cerebral habit of getting annoyed or irritated) ने डाल ली है। यह क्रोध एक आदत ही है। और कुछ नहीं।

हम ऐसी निरपेक्षता साध लें कि "मुझे जो उचित लगता है वह मैं करने वाला हूँ, जो अभिमुख हैं उन्हें वह कहूँगा भी, छोटे बच्चे साथ आयें, चाहें तो उन्हें सिखाऊँगा, करवाऊँगा।—बस, इस से आगे नहीं, किसी पर जबर्दस्ती वह लादना-थोपना नहीं। यहाँ अहङ्कार आड़े आने पर कहता है "मुझे इस की विशेष जानकारी है। मैं विचक्षण बुद्धिसम्पन्न हूँ, मैं दूसरों को दबा सकता हूँ।"—ऐसा चित्त में प्रभुत्व आये बिना क्रोध आता नहीं। "यह मेरा है, या मेरी है, इस लिये इसे मेरे कहने के अनुसार करना ही चाहिये।" फिर वह संस्था हो, कुटुम्ब हो, मित्र हों सब जगह यही चलता है। प्रभुत्ववाद में क्रोध है और मानसिक परावलम्बन में दुःख है। ये (Dependency and domination are the obverse & converse of the same thing.) प्रभुत्व और परावलम्बन एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। प्रभुत्व जमाने की शक्ति न हो तो मनुष्य किसी पर चिपक कर निर्भर हुआ रहता है। आश्रित हो जाता है। जिस पर आप चित्त-मन-बुद्धि से आश्रित हो गये—उस का आप की ओर ध्यान न हो तो आप को दुःख होता है, उन का दूसरों की ओर ध्यान गया हो तो आप को

शोक होता है ! आप उस व्यक्ति पर इतने निर्भर हुए रहते हैं कि भूल जाते हैं कि एक दिन मृत्यु द्वारा उस से वियोग घटित होने हो वाला है। मृत्यु कोई आप को पूछ कर तो आने वाली नहीं ! जब आये तब क्षणार्ध में उठा ले जाती है प्राण को ! अपूरणीय क्षति होती है, तब शोक होता है। मृत्यु का विस्मरण ही शोक का कारण है। रोज सामने इतनी मृत्यु देखते-सुनते है फिर भी चित्त कहीं न कहीं आसक्त हो बैठता है। प्रेम बाँधता नहीं, आसक्ति बाँधती है, उस से परावलम्बन आता है। सुख-दुःख अनिवार्य हैं, जीवन के अङ्ग हैं, और जो भी सामने आये उस का सम्पूर्ण स्वीकार—यही जीवन जीने की चाबी है,—यह पहचानना होगा।

एक बार (सन् ६०-६५ के बीच) कोई सज्जन श्री जे० कृष्णमूर्ति से मिलने आये। उन्हें कोई व्याधि थी। दादा धर्माधिकारी जी के साथ मैं भी मिलने गयी हुई थी, वहाँ बैठी थी। श्री कृष्णमूर्त्तिजी ने उन्हें एक प्रश्न किया—आप को कष्ट कहाँ पर है भाई ? सज्जन ने बताया कि शरीर में क्या-क्या कष्ट है। सुन कर कृष्णमूर्त्ति जी बोले—"ओह ! तो दर्द शरीर में है ! तो फिर आप का मन क्यों कष्ट भोग रहा है ? आप शरीर के कष्ट को मन में प्रवेश ही क्यों करने देते हैं ? शरीर में व्याधि है उस का जो भी इलाज सम्भव हो वह अवश्य करो, पर शरीर की व्याधि से मन में दुःख क्यों उत्पन्न होने देते हो !" उन कृष्णमूर्त्तिजी के शरीर में असाध्य कैन्सर जैसा व्याधि हुआ पर उसे मन में न लगने दिया। जैसा कहा था वैसा जी कर दिखाया।

इस लिये मैंने कहा कि ये आधि-व्याधि जिन्हें आप 'दुःख' कहते हैं, वह जीवन ही है। कौन कहता है कि दुःख में जीवन नहीं है ? मृत्यु-नामक प्रचण्ड घटना में, वियोग की कटु तीक्ष्ण हृदयवेधक वेदना में भी जीवन का ही तो दर्शन होता है, अन्धेरे बिना प्रकाश चाहिये ? आँसू बिना की मुस्कान (स्मित) चाहिये ? ऐसा एकाङ्गी जीवन क्या होगा ? द्वैत तो जीवन का स्वभाव है। अनेकता, विचित्रता, विविधता जीवन का ऐश्वर्य है। "हमें रुचे, हमें अनुकूल हो–उतनी सी क्या जीवन की कोठरी बना रखनी है ? बन सकती है क्या ?

जैसे धन पर प्रेम है, सुरक्षा पर प्रेम है–वैसा थोड़ा सा यदि जीवन पर प्रेम हो न ! तो फिर यह भारी समस्या नहीं रहती। प्रत्येक क्षण अनन्तता नाचती हुई आपके सामने आती है। क्षण के अवगुण्ठन में छिपी

हुई जो जीवन की सनातनता, भव्यता, दिव्यता है–उस से सम्बन्ध बाँधे हुए जीने में आँसू बहें, ठोकरें लगें, सिर पर किसी ने राजमुकुट रखा या जूते मारे–इस से क्या ? आप जी रहे हैं या नहीं ?–यह महत्त्व की बात है। (It is the quality of consciousness which you bring in there on the events of life that will indicate the richness or the poverty.)

दो दृष्टियों से हम ने प्रश्न को देखा। एक–जो घटित हो उस में इतनी उत्कटता से जीते हुए गुज़र जायें कि उस घटना के अवशेष चित्त में चिपके न रहें। उस समय किसी सिद्धान्त या आदर्श के तले संवेदना को रौंद न डालें। और फिर स्मृति का भार न ढोयें। "क्या मालूम फिर जीवन में कभी (उस व्यक्ति से) संयोग आये या नहीं ! अब वह आत्मा कहाँ गयी होगी–उसे खोज निकालें !....." अरे ऐसे उपद्रव करते फिरने को आप से किसने कहा ? क्यों हम जीवन का सीधा सामना करने से कतराते हैं ? जीवन के तथ्य से दूर छटक जाते हैं। यह गलत है। जीना महत्त्व का का है, पलायन नहीं। दूसरी बात यह कही गयी कि जीते समय इतनी प्रामाणिकता व समग्रता से हर घटना को जी लें कि फिर उस का लेश भी चित्त में न रहे।

आप कहेंगे कि "ये कोई सरल उपाय तो बताती हो नहीं ! कि दुःख हो तो 'श्रीराम जयराम जय जय राम' रटने लगो, या और कुछ। कुछ भी पूछें कि सीधे समुद्र-तल की गहराई में ले जाती हैं।" तो भाई। हम जहाँ रहते हैं, वहीं तो आप को ले जायेंगे न ! वहाँ दम घुट जाय तो भी हानि नहीं।

प्रश्न—मौन में जो मन की हलन-चलन होती है उसे कैसे रोका जाय ? हम एकान्त में आसन लगा कर आँखे मूँद कर सीधे बैठ गये, वाणी समेट ली। पर मन तो हिलता ही रहता है।

उत्तर—इस पर हम ने पहले दिन ही विचार किया था, कि जो हलचल होती दिखती है, उसे देखते चलें। देखे बिना वह शान्त कैसे होगी ? मन की जो हलचल दिखती है वह, और उसे देखने वाला—ये दो अलग हैं क्या ? आप दर्पण के सामने बैठते हैं–अपनी ओर देखते हैं, उस दर्पण में पड़ा प्रतिबिम्ब आप ही तो हैं ? आप बिम्ब, आप देखने वाले, और आप ही प्रतिबिम्ब। वहाँ द्रष्टा भी आप हैं, दृश्य भी। दो नहीं है। दर्शन-क्रिया का आभास है। मौन में बैठने पर जो हलचल दिखती है वह आप

जिसे "मैं" कहते हैं उसी की हलचल है। उस मौन या शून्य के दर्पण में आप का ही रूप प्रकट होता है, उस की ओर देखिये ! ऐसे देखने में बहुत कुछ ऐसा भी दिखेगा जो आप को रुचता नहीं। क्योंकि अपने बारे में अनेक कल्पनायें होती हैं। प्रतिमायें होती हैं जो खण्डित होने लगती हैं। हम मान बैठे होते हैं कि बड़ा सज्जन हूँ, शान्त स्वभाव का हूँ, मुझ में ब्रह्मचर्य है, उदार हूँ, सब के लिये मैत्री भाव है"–और मौन के लिये बैठने लगते हैं तब दिखते हैं—क्रोध, काम, क्षुद्रता, पामरता""। इसलिये देखना रुचता नहीं। और यह अरुचि का पर्दा खड़ा हो जाता है तब अवलोकन हो नहीं पाता। शुद्ध अवलोकन का कर्म एक तपस्या है। उस में आप की रुचि-अरुचि, आप के मूल्यांकन, पूर्वग्रह आड़े नहीं आने चाहियें। आप की प्रतिमाओं-धारणाओं मान्यताओं-कल्पनाओं के टुकड़े हो जाते हैं, चूर-चूर हो जाती हैं सब ! उस चूरे को देखिये !

उस हलचल को देखते समय बोध होता है कि अपनी अपने बारे में कल्पनायें क्या थीं और वास्तविकता क्या है ? कितनी बड़ी बात है यह ! (The factual content of your being gets discriminated from the ideas, the images & illusions for yourself !) इसका मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कितना बड़ा महत्त्व है !

अतः—'हलचल को रोकना है, या जो दिखता है उसे बदल देना है'—यह सोचकर अभिनिवेश लेकर मत बैठिये ! कुछ करने नहीं बैठना है। बस देखना है, पहचानना है और उसका तथ्य समझ लेना है। यह जो समझ उपजेगी वह जो करे सो होने दीजिये। समझ के सहज परिणामवश जो घटित होना हो वह होने दें। हमें कुछ नहीं करना है। इस प्रकार अव्यग्र दृष्टि रहे। किसी प्रकार की व्यग्रता नहीं, अन्यमनस्कता नहीं। ऐसी स्थिर दृष्टि रहे।

स्थिर दृष्टि और एकाग्र दृष्टि में अन्तर है। स्थिरता में किसी एक बिन्दु पर ही स्थिर होने का आग्रह नहीं रहता। और जब सब ओर से दृष्टि को लौटाकर, खींचकर किसी एक बिन्दु पर स्थिर करने का आग्रह होता है तब उसे एकाग्रता कहते हैं। स्थिरता विषय-समय-सापेक्ष नहीं होती, एकाग्रता सापेक्ष होती है।—विषय-समय-हेतु की अपेक्षा रहती है वहाँ। स्थिरता एक निरुपाधिक अवस्था है।

प्रश्नकर्ता पूछते हैं कि "साक्षीभाव से देखने को कहा है, वह साक्षीभाव कैसे साधें ?"––उसे "साक्षी-मध्यस्थ-तटस्थ" आदि कोई नाम न

दें ! नामों से गड़बड़ हो जाती है । बस देखना है—इतना निश्चित रखें । जिस देखने में मूल्यांकन न हो, तुलना न हो, निष्कर्ष व निर्णय न निकलते हों, ऐसे देखें । जिसे शुद्ध 'देखना' मात्र bare cognition or pure perception) कहा जा सके । चिली (दक्षिण अमेरिका) में हमारे एक मित्र हैं—डॉ० उम्बेर्तो—बड़े प्रसिद्ध जैववैज्ञानिक (Biologist-scientist) हैं । अनेकों ग्रन्थ लिखे हैं । उनमें "Biology of Cognition" नाम का ग्रन्थ प्रसिद्ध है । उन्होंने हमारे—"Science & Spirituality" के सेमिनारों में विषय समझाकर कहा भी है । उनका कहना है कि जिस अवलोकन में तुलना नहीं, मूल्यांकन नहीं, जो अवलोकन निष्कर्ष व निर्णयों से बँधा हुआ नहीं है—उस अवलोकन कर्म का परिणाम आपके नाड़ीतन्त्र (neurological system of the body) पर बिल्कुल अलग ही पड़ता है । जो देखने का कर्म सिद्धान्तों के खूँटे पर निर्णयों-निष्कर्षों से बँधा हुआ, तुलना-मूल्यांकनों से रुँधा हुआ होता है, उससे उत्पन्न होता है क्षोभ, असन्तुलन । और सर्वथा शुद्ध अवलोकन का परिणाम कहीं क्षोभ नहीं उठाता, न आप में, न पदार्थ में !····यह विषय अत्यन्त सुन्दर होने पर भी इसमें अभी उतरने का अवकाश नहीं है । बस, शुद्ध अवलोकन में कितनी सामर्थ्य है—यही थोड़े में बताना था ।

अतः मन की हलचल कब रुकेगी ? कैसे रुकेगी ? इसकी चिन्ता न करें । हाँ, "तीव्रसंवेगानां सद्यः फलम्" जिनके शरीर व चित्त में अत्यन्त उत्कटता है, उनका यह अवलोकन का अभ्यास एक घण्टे में भी समाप्त हो सकता है । और उसी में वे इसके पार निकल जा सकते हैं । पर सबके संवेग ऐसे उत्कट नहीं होते । कोई मध्यम, तो कोई मन्द संवेगवाले लोग होते हैं । किसी की पित्तप्रधान प्रकृति, किसी की कफप्रधान, किसी की वातप्रधान ! ऐसी अलग-अलग प्रकृति के कारण और Physical, temperamental ideosincracies के कारण समय किसको कितना लगेगा—इसका गणित नहीं निकाला जा सकता । किन्तु मनुष्यजाति द्वारा अपने ऊपर किये गये संस्कार कितने भी व्यापक हों, वे अनन्त नहीं । इसलिये एक-एक दिन क्षीण होते-होते कभी न कभी देखना और दिखनेवाला दृश्य दोनों शान्त निःशेष हो जायेंगे ।

इसमें और एक बात है कि वह आत्म-निरीक्षण-परीक्षण आत्मविश्लेषण (Introspection & Psychoanalysis) नहीं होना चाहिये । "यह जो दिखा, इसका कारण क्या है ? अभी तात्कालिक कारण क्या है ? और

पुराने कारण क्या हैं ? फिर विश्लेषण फ्रॉयड के अनुसार करना है या युंग के अनुसार, अथवा गेस्टॉल्ट मनोविज्ञान के अनुसार ? या फिर पूर्वी दार्शनिकों के अनुसार विश्लेषण करना है। योगशास्त्र ने क्या कहा ? नागार्जुन ने क्या कहा है ?--जो दिखा उसका अर्थघटन किस प्रकार करें ?—ऐसे तो कितने ही जन्म बीत जायें पार नहीं आयेगा। Introspection & Psychoanalysis--they are qualitatively different from the act of observation, which opens the gates of silence (अन्तर्निरीक्षण और आत्मविश्लेषण--ये मौन का द्वार खोलने वाले अवलोकन कर्म से गुणात्मकतया भिन्न क्रियायें हैं।)

इनका उपयोग नहीं—ऐसा मेरा अभिप्राय नहीं है। जो व्यक्ति अवलोकन कर नहीं सकता, शरीर रोगी है, मन पङ्गु है, जिसे दूसरों की मदद चाहिये--व्यक्तियों या शास्त्रों की; उनके लिये ये अन्तर्निरीक्षण-आत्मविश्लेषण उपयोगी हो सकते हैं, पर 'ध्यान' 'मौन' से उनका कोई सम्बन्ध नहीं।

मन की हलचल रोकने के लिये लोग अनेक उपाय करते हैं उसमें यह विश्लेषण का मार्ग भी पकड़ते हैं, नहीं तो खूब मन्त्रजप करते हैं ! पर यह तो एक हलचल को रोकने के लिये दूसरी हलचल शुरू करना हुआ। इसका फिर मन पर, नाड़ीतन्त्र पर विशिष्ट प्रभाव परिणाम होगा; क्योंकि आप खास हेतु से विशिष्ट क्रिया-प्रक्रिया कर रहे हैं। उनसे कोई शक्तियाँ जागेंगी, अनुभव आयेंगे। पुरानी स्मृतियों-अनुभूतियों के जाल से छूटने के लिये तो मौन में बैठे थे। मन अशान्त दिखा तो उसे शान्त करने के लिये जो मार्ग पकड़ा वह नई अनुभूतियाँ लायेगा ! यह तो अन्तर्विरोध (Contradiction) हुआ न ! मानवशरीर में भीतर पड़ी सुप्त शक्तियों को जगाकर उनकी क्षमता, क्रीड़ा देखनी हो, उनका विनियोग मानसिक चिकित्सा (Psychotherapy) के लिये करना हो या अन्य भौतिक लाभ व्यापार के लिये करना हो तो करें ! पर उसे ध्यान-साधना का अङ्ग या रास्ता न मानें ! इतना ही मुझे कहना है। जैसे आप Conscious-ness expanding-drugs लेकर एक कृत्रिम रीति से शरीर में जैवरासायनिक परिवर्तन लाते हैं, वैसे मन्त्रविज्ञान द्वारा Sound therapy का प्रयोग करके शरीर में एक विशिष्ट रासायनिक दशा उत्पन्न कर सकते हैं। वह कृत्रिम अवस्था है। ऐसी कृत्रिम रूप से खड़ी की गई अवस्थाओं में, विकास-वृद्धि-परिवर्तन होता हो—यह दिखाई

नहीं देता। काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि जो विकार अपने यहाँ देखे-कहे गये हैं, उनका शमन हुआ हो—इन मन्त्र-तन्त्र मार्गों से जानेवालों के जीवन में--यह क्वचित् ही दिखता है।

प्रश्न—मन से परे जो चेतना का आयाम है उसमें मनुष्य कैसे आरूढ़ हो सकता है? और मानवीय सम्बन्धों के नये आधार कैसे खड़े होंगे—मन की हलचल कैसे रोकी जाय?

उत्तर--कौन रोकेगा? क्रिया-प्रक्रियाओं द्वारा रोकेगा? किन्हीं रसायनों की मदद से ये रुकेंगी? Primal screen पर्यन्त जाकर रुकेंगी? समूह-चिकित्सा करके रुकेंगी?—इन सबके प्रयोग अमेरिका-ऑस्ट्रेलिया में किये जा चुके हैं। हमारा कहना इतना ही है कि उस हलचल को समस्या न बनायें। वह एक तथ्य है--इस दृष्टि से उसको ओर देखें। यह देखते-देखते ही कब यह देखना—देखने की यह भूमिका तक--कब शान्त हो जायेगी--यह मालूम भी नहीं पड़ेगा। यह तो एक सहज घटना है। (It is a happening. It is an occurrence.) इसलिये कोई भी 'भाव' खड़ा करने का प्रयत्न न करें। तटस्थ-भाव से—मध्यस्थ रूप से—साक्षीभाव से देखना है—ऐसा अपने ऊपर कुछ लादें नहीं। तुलना-मूल्यांकन-रहित केवल देखना सीखें—(Learn to observe in a non-comparative, non-evaluatory way & Life takes care of the rest)--बाकी सब 'जीवन' स्वयं सम्हाल लेगा!

प्रश्न—मौन में बैठते हैं तब शरीर स्थिर नहीं रहता। कभी गर्दन हिलती है, कभी पाँव, कभी हाथ हिलते हैं!

उत्तर—मजा यह है कि मौन में न बैठने पर भी, एक-दूसरे से बातें करते हुए भी लोगों के हाथ-पाँव-गर्दन-भौंहें—नाहक चलती हैं। अरे कुर्सी पर बैठे पुस्तक पढ़ रहे हैं फिरभी पाँव हिला रहे होते हैं, मैंने देखा है। इसमें एक अंश तो आदत पड़ने का हो सकता है। और ऐसी कोई आदत शरीर को पड़ी हो तो आपके शान्त बैठने पर वह उभर कर दिखती है (It gets highlighted) बाकी सब हलचल बन्द हो जाती हैं—बस एक वही बच रहती है। दूसरा कारण चित्त को वह अवस्था रुचती न हो। कहीं जाना नहीं, देखना नहीं, कुछ पाना नहीं,--निरुद्देश्य, निष्प्रयोजन, निर्विषयता में चित्त को रस नहीं आता। चेतन स्तर (Concsious level) पर बुद्धि में पैठा होता है कि मौन में बैठना है। भीतर

(subconscious) स्तर पर उसके लिये प्रतिकार (resistence) होता है जो शब्दों में व्यक्त हुआ नहीं होता। पर वह अरुचि मौका देखती रहती है प्रतिरोध करने का। हम बैठे हैं चेतन मन के जोर से ! उसने संकल्प किया है, निश्चय किया है, उसे चाहिये मौन ! पर अव-चेतन में पड़ा हुआ अवरोध शरीर की ऐसी नाहक हलचल में प्रकट हो सकता है--यह दूसरा कारण है।

तीसरा कारण—अपने देश में लोगों को बहुत जल्दी मचती है कि ध्यान-साधना भी झटपट हो जानी चाहिये। इसलिये बहुत लोग किन्हीं साधु-संन्यासी-योगी आदि के पास जाते हैं, और अपने शरीर पर कोई क्रिया करवा लेते हैं—शक्तिपात की क्रिया, कुण्डलिनीसंचालन की क्रिया। यदि किसी ने ऐसा कुछ किया हुआ हो, तो वह मनःशारीरिक ऊर्जा (psychophysical energy) आप ने उत्तेजित कर ली है, वह शरीर में संचार करने लगी। उस का शरीर की बाकी क्रियाओं से मेल नहीं बैठता, वह मेल कैसे बैठायें—यह किसी ने सिखाया नहीं, तो वह शरीर में नाच-कूद करने लगती है। आप शान्त बैठें तब वह कृत्रिम रीति से जगाई हुई ऊर्जा कुछ न कुछ हरकत कराती रहती है। किसी की गर्दन जोरों से हिलती है, कोई आगे-पीछे डोलते हैं, कोई एक तरफ़ झुक जाते हैं, इत्यादि—यह एक कारण हो सकता है। या फिर शान्त बैठने पर चित्त शून्य होने लगा तब उस शून्यता की उत्कटता को धारण करने की शक्ति नाड़ीतन्त्र में नहीं है—इस से भी शरीर में कम्प हो सकता है।

यदि पहले कहे हुए कारणों में से कोई न हो, फिर भी मौन में बैठने पर ऐसी शरीर की हलचल होती हो तो मैं कहूंगी कि वह व्यक्ति कम से कम तीन महीने, अधिक से अधिक ६ महीने मौन-ध्यान में बैठना छोड़ दें। आसन करें। विशेष रूप से रीढ़ को, पीठ को मजबूत बनाने वाले, नाभिचक्र की शक्ति बढ़ाने वाले आसन करें, आहार-विहार में परिवर्तन करें। सब तरह से नाड़ियों को मजबूत बनाने के उपाय करें। ग्रन्थियों-स्नायुओं-मांसपेशियों को मजबूत करने की बात मैं नहीं कहती। पर नाड़ीतन्त्र में कस बढ़ना चाहिये, मस्तिष्क की भी vitality (जीवन-शक्ति) बढ़नी चाहिये। दूर-दूर पैदल घूमने जायें, अच्छा संगीत सुनें-जिन से नाड़ियों को विश्रान्ति मिलती है। फिर ५-६ महीनों बाद ध्यान के लिये बैठें। यदि शक्तिपात आदि किसी क्रिया से शरीर में यह आदत लगी हो तो केवल आहारादि-परिवर्तन से कुछ नहीं होगा। उन्हें उस क्रिया को उलटा सकने वाली और कुछ क्रियायें ही करनी होंगी। शास्त्रों

में उस की भी व्यवस्था है। इस तरह की असामान्य शारीरिक हलचल की 'बीमारी' विदेशों के हमारे ध्यानशिबिरों में बहुधा देखने को मिलती है। वे लोग जो नशीली दवायें (Drugs) लेते हैं उन का असर जिन कुछ घण्टों में उतर जाता है तब उस का विचित्र परिणाम शरीर पर होता है। उस में से फिर बाहर नहीं निकल पाते।

यों तो अध्यात्म सरल है, पर बच्चों का खेल नहीं। अध्यात्म के नाम पर कृत्रिम प्रक्रियाओं द्वारा सुप्तशक्तियों से छेड़खानी करें तो शरीर के जीवक अङ्गों (vital parts) को क्षुब्ध कर दिया जाता है, जिस से आया हुआ असन्तुलन प्रायः असाध्य हो जाता है। हठ-आग्रह-जबर्दस्ती तन की तोड़-मरोड़ करने से अध्यात्म-साधना नहीं होती। अध्यात्म की ओर मुड़ना हो तो किसी समराङ्गण में शत्रु को जीतने की वृत्ति नहीं होनी चाहिये। सत्सङ्ग में, सद्ग्रन्थ-वाचन में, भजनकीर्तन में, जहाँ भी जाने हों वहाँ-ज्ञात समझ लें, उस का मनन करें और अपनी समझ में पैठी हुई बात पर अमल करें, तुरन्त जीवन में उतारें।

प्रश्न—मौन में अनाहत नाद सुनाई देना अवश्यंभावी है क्या?

उ०—चित्त शून्यावस्था में हो, 'अहं' की सब बहिर्मुखी गतियां शान्त हो गयी हों तो भीतर की स्वयंचालित गतियों के नाद, फिर भीतर के स्वयम्भू नाद भी सुनाई देने लगते हैं।—ऐसा परसों मैं ने कहा था। ये नाद अनेक प्रकार के हैं। शरीर में जलतत्त्व प्रधान हो तो एक प्रकार के नाद सुनाई देंगे, अग्नितत्त्व प्रधान होने से पित्त प्रक्षुब्ध हो तो अन्य प्रकार के नाद सुनाई देंगे। सत्त्व-रज-तम कफ-पित्त-वात सब का विचार करना होगा, तब कहा जा सकेगा कि किसे किस प्रकार के नाद सुनाई दे सकते हैं। बड़ा विज्ञान है इस में। (Ours is a very rich heritage, scientifically worked out) पर ये सब नाद किसी न किसी घर्षण (natural friction taking place in the body) से उत्पन्न होते हैं अतः आहत नाद ही हैं। वह कोई खास आध्यात्मिक प्रगति के सूचक नहीं। जिस तरह विचार जड़-द्रव्य-प्रक्रिया है, वैसे अनुभूतियाँ भी जड़-प्रक्रियायें ही हैं। अनुभूतियाँ इन्द्रियगत हों या अतीन्द्रिय हों, जहाँ अनुभूति लेने वाला (अनुभविता) बैठा है, अनुभव लेने की क्रिया एवं विषय है जिसे एकदेशी शब्द द्वारा कहा भी जा सकता है—वह सब मनोव्यापार (मन की क्रिया) है। मन यानी सूक्ष्म पार्थिव जगत् की बातें हैं, इन्हें बहुत महत्त्व देने की जरूरत नहीं। (वर्ना, लोग तो जरा सा कुछ हुआ

कि छाती फुला कर घूमते हैं–मान लेते हैं कि बस "पहुँच गये" "सिद्ध हो गये !")....इतना देख लेना चाहिये कि नाद सुनाई दिया तो प्रकाश भी दिखता है ? क्योंकि नाद और प्रकाश अलग नहीं रहते।

Sound contains light & light contains sound. They are intraconvertible energies. कभी प्रकाश दिखता है, चांदनी दिखती है, प्रकाश के तुषार उड़ते दिखते हैं, प्रकाश का प्रवाह बहता दिखता है, किसी को आरक्त (ललछौंहाँ) किसी को पीत, श्वेत, नीलवर्ण ! ये सब भी पार्थिव जगत् के ही हैं।

मुझे मालूम है कि मेरा यह सब कहना किसी को प्रिय लगने वाला नहीं। पर क्या करूँ—अप्रिय किन्तु पथ्य के श्रोता-वक्ता दोनों हम यहाँ एकत्र हुए हैं, तथ्य-सत्य निवेदन करना मेरा धर्म है।

इन नादों या प्रकाशों में से सुख का उपभोग लेने की वृत्ति यदि नहीं है, और आपकी साधक की भूमिका, सत्यशोधन की भूमिका यदि कायम रहती है ("मुझे ऐसे नाद सुनाई दिये ! इतने प्रकाश दिखे ! तुम चाहो तो इसकी प्रक्रिया-साधना सिखा दूं !"—ऐसा ऊधम यदि अहंकार ने न मचाया हो) तो ये पार्थिव जगत् के सूक्ष्म दृश्य-श्रव्य भी शान्त हो जाते हैं—जैसे मौन के आलोक में विचार-विकार शान्त पड़ते हैं; फिर इनके परे जो मूल नाद है, अनाहत है, (self generated, self born) जो विश्वसृष्टि के अणु-रेणु में व्याप्त है, वह नाद सुनाई पड़ता है। और वह नाद हम सुन रहे हैं इसका भान भी वहीं के वहीं विलीन, समाप्त हो जाता है।

ऐसे अनाहत नाद का स्पर्श वैज्ञानिक दृष्टि से अवश्यम्भावी है। आप पूछें कि "वह नाद सुनाई न दे तो क्या हममें कोई अशुद्धि है ?" तो कहना होगा कि हाँ, हो सकती है। किन्तु यहाँ नैतिक अर्थ में पारिभाषिक "शुद्धि-अशुद्धि" शब्द न लें। मेरी दृष्टि से असन्तुलन ही अशुद्धि है।

सन्तुलने शुद्धिकरणम् ! असन्तुलने अशुद्धिः।

Imbalance is the only impurity one recognises in the science of Spirituality, without any moral overtones & undertones.

अपने मन-वाणी-शरीर के व्यवहार में कहीं कोई असन्तुलन रहते होंगे इसलिये शरीर में रक्तग्रन्थि (blood clots) की तरह चेतना में गाँठें (Psychic clots) पड़ी हैं।

प्रश्न—"मननात् मनुष्यः"—मनन की शक्ति से ही मनुष्य का गौरव है—ऐसा आप कहते हैं, और मौन में तो मन का लय हो जाता है, कदाचित् नाश भी हो जाता हो; फिर मानव कैसे बचा रहेगा ?

उत्तर—मौन में मन का नाश नहीं होता। मन का नाश करने की भी प्रक्रियायें हैं अवश्य ! उग्र प्रकृति के लोग अध्यात्मसाधना का प्रारम्भ भी उग्रता-क्रूरता से (violently) करते हैं। अपने आप पर जबर्दस्ती करते हैं, निग्रह-दमन-पीड़न करते हैं। ज्ञानराय कहते हैं—

"काया को दण्ड न दें। लीलया संसार तर जावें"

"समझ-बूझ कर जीवन जीते हुए अनायास ही संसार पार हो जायेंगे।" अतः दमन-निग्रह-पीड़न एवं अन्य मनोनाश की प्रक्रियाओं जैसे हिंसक उपाय करने की जरूरत नहीं। [मुझे बचपन से यह आदत रही कि भारत के विभिन्न प्रदेशों में घूम-घूमकर देखना कि साधना के कौन-कौन से पन्थ हैं, कितने तन्त्र हैं ? क्या होता है वहाँ ? अतः अघोरी साधना करने वालों को भी देखा है।] मौन में मन का नाश नहीं होता। संस्कार कोई बाहरी अवयव तो नहीं कि आप काटकर फेंक दें ! वे तो हाड़-माँस-रक्त में—बूँद-बूँद में, अस्थि-मज्जा तक में भरे हुए हैं। आप "संस्कृति-सभ्यता" (civilisation) की उपज हैं, और इस "सभ्यता" का उपादान हैं संस्कार। प्रकृति से, प्राकृतता से संस्कृति-संस्कारितता पर्यन्त की यात्रा ही तो मनुष्य-जीवन का इतिहास है ! अतः उसकी संरचना में ही संस्कार बुने हुए हैं। मन का अर्थ है संस्कारों के स्पन्दन। वे भीतर नखशिखान्त वर्तमान हैं, पर आँख-कान-त्वचा आदि की तरह मन को पृथक् कहीं दिखाया नहीं जा सकता। बहुत हुआ तो आज के विज्ञान की भाषा में उसे विचारकाया (thought body) कहा जा सकता है, और उसके पीछे-परे है ऊर्जाकाया (energy body) जिनके फोटो भी लिये गये हैं, उनकी गतिविधि यन्त्र द्वारा आँकी जा सकी है। और शरीर की मृत्यु (medically) हो जाने के बाद भी ४८ घण्टों तक ऊर्जाकाया की गतिविधि आँकी गयी है।

इसलिये चिकित्सक लोग सोचने लगे हैं कि कानूनी तौर पर तथा चिकित्साविज्ञान के अनुसार "मृत्यु" किसे कहा जाय ? जन्म तथा मृत्यु

की पुनः परिभाषा बनानी होगी। रूस में, बल्गेरिया रूमेनिया में इसकी चर्चायें चल रही हैं, शोध हो रहे हैं। The Psychic Research behind 'the iron curtain' is taking sweeping steps in definitions of birth & death.

मौन में संस्कारसंचय व स्पन्दनात्मक जो मन है, और उसमें समायी हुई जो प्रचण्ड गति (momentum) है, वह थम जाती है, नष्ट नहीं होती। आप इस समय यहीं बैठे हैं, तो आप के पांवों में, शरीर में जो मीलों चल सकने की शक्ति है, ऊर्जा है, वह भीतर है ही, कहीं नष्ट नहीं हो गयी। इस समय आप उसका उपयोग नहीं कर रहे हैं अतः वह स्थगित (suspended) है।

मनन के द्वारा शब्दों की मदद से सत्य की खोज का एक रास्ता मनुष्यजाति ने खोजा था। हमारे पूर्वजों ने एक महान् पुरुषार्थ किया था पदार्थों को नाम देने का ! आकृति-प्रकृति-गुण-दोष-शील आदि के अनुसार प्रत्येक स्थूल-सूक्ष्म वस्तु को नाम दिया—तभी वह "पदार्थ" (पद यानी शब्द का अर्थ) कहला सकीं। इसे 'पृथ्वी' कहना, इसे 'वृक्ष' कहना..... इत्यादि। उन नामों द्वारा सब वस्तुओं से—दृश्य-श्रव्य-स्पृश्य आदि विषयों से—अपना सम्बन्ध स्थापित किया। अतः मनन विश्व से सम्बन्ध बांधने का मार्ग है अवश्य। किन्तु जब शब्द से—मन से परे जो ऊर्जा है, जिसे दर्शन के लिये शब्द की जरूरत नहीं, यथार्थता के बोध के लिये जिसे शब्द के माध्यम की जरूरत नहीं, इन्द्रियों की जरूरत नहीं; वह ऊर्जा (जिसे हमने 'प्रज्ञा' perceptive intelligence कहा) काम करने लगती है तब चेतना मौन में प्रतिष्ठित हो जाती है। वही आंखों से देखती है, कानों से सुनती है, और जब जरूरत होती है तब मनन-शक्ति का उपयोग करती है। जैसे आप अपने हाथ-पांव का उपयोग करते हैं वैसे वह प्रज्ञा स्मृति-मेधा-बुद्धि-संस्कार आदि सबका जरूरत के अनुसार यथास्थान उपयोग करेगी। To recollect the conditionings and utilize them in their relevent fields of action.

इसलिये मन के मौन हो जाने पर मानव नहीं समाप्त हो जाता। मन और बुद्धि के परे की जो ऊर्जायें हमें अज्ञात हैं, वे ऊर्जायें खिल उठेंगी, उनके उपयोग की कला मनुष्य सीख जायेगा। हम यह क्यों मान बैठें कि मन व बुद्धि तक ही मनुष्य की शक्ति सीमित है ! अपनी इस देह में अनंत

सम्भावनायें समायी हुई हैं। इसीलिये मैंने कहा था कि हम देह से मनुष्य बने इससे यह निश्चित नहीं हो जाता कि आशय (Content) से भी मनुष्य बन ही गये।

मान लीजिये कि मन का लय हो गया, तो घबराइये नहीं; मन के परे की ऊर्जायें क्रियाशील होंगी। लय का अर्थ नाश नहीं है। एक कदम और मेरे साथ आगे बढ़ें। भारतीय वैदिक संस्कृति में नाश शब्द का अर्थ "खत्म" (destroy) होना नहीं है। विनाश को यहाँ अवकाश ही नहीं है। रूपान्तर होता है—destruction नहीं। जैसे यहाँ "evil" या 'Devil' (दुष्ट-अशुभ-शैतान) को स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी गयी, उसी तरह विनाश की स्वतन्त्र सत्ता नहीं। इसलिये आगे चलकर, ध्यान की अवस्था में मन में समायी हुई ऊर्जाओं का भी रूपान्तर (transformation) हो जाता है इतना-सा निर्देश करना था।

हम नये क्षेत्र के क्षितिज खोल रहे हैं, उस ओर देख रहे हैं। वहाँ प्रवेश करने की प्रत्येक की इच्छा, रुचि, हिम्मत होगी हो--ऐसा नहीं, पर इन मन-बुद्धि के परे, काल व देश के परे क्या-क्या पड़ा है ? (What is beyond the brain & mind, beyond time & space)। वहाँ जीवन है या नहीं ? जिजीविषा (जीने की इच्छा) हो तो ज्ञात की दहलीज लाँघकर अज्ञान की ओर झाँकने की इच्छा होती है।

प्रश्न—एकाग्रता की विधि व प्रक्रिया का उपयोग करके ध्यान की ओर जाया जा सकता है या नहीं ?

उत्तर—प्रक्रिया का उपयोग कौन करेगा ? हम ही तो। प्रत्येक क्रिया-प्रक्रिया का शरीर पर, और उसका जो सूक्ष्मतम रूप मन है उस पर परिणाम होता है। ध्यानावस्था का अर्थ है समस्त क्रिया-प्रक्रिया व गतियों से मुक्त हो जाना। पहली गतियों में तदात्मता से मुक्त होना, और क्रिया-प्रक्रियाओं द्वारा जो नई गतियाँ उत्पन्न की जाती हैं--उनसे भी मुक्त होना। चेतन-अवचेतन-अचेतन ऐसे मन के सभी स्तरों की सभी गतियों से मुक्त होना और "सत्तामात्रशरीरम्" ऐसी स्थिति में रहना। वहाँ केवल 'होना'-मात्र कायम है। बिन्दु नाद नहीं बना, उसकी कलायें नहीं बनीं। सत्ता भी ऊर्जा रूप से अभी स्वयं को प्रसाधित शृंगारित नहीं किये हुए हैं—ऐसी उस केवल 'सत्ता' की अवस्था में रूढ़ होने को हम ध्यानावस्था कहते हैं। आप एकाग्रता के मार्ग से चलेंगे तो वहाँ मन की ही गति करनी होगी--संकल्प करना होगा—"मैं इस विषय पर इतने

समय तक एकाग्रता रखूँगा।" इस प्रक्रिया से जागृत होनेवाली शक्ति और क्रियाशील हुई गतियों से छूटने में फिर काफी समय लगता है।

ध्यान "किया" नहीं जाता भाई ! ध्यान नाम की अवस्था में सर्वाङ्ग से जिया जा सकता है। वह कोई मन की क्रिया नहीं है। आप मन को एकाग्र कर सकते हैं, अनेकाग्र कर सकते हैं। मन को पकड़ कर एक साथ सौ दिशाओं में, सो विषयों पर रह सके—ऐसे शतावधान के प्रयोग भारतीय संस्कृति में हुए हैं। अभी ही—श्रीमद्‌राजचन्द्र जी गये, वे शतावधानी व्यक्ति थे। गांधीजी खास उनका शतावधान का प्रयोग स्वयं देखने गये थे। अभी भी गुजरात में एक रामभक्त साधक हैं—मकराणा गाँव में रहते हैं—साणन्दराजवंशी श्री रवुभा बापू। प्रचण्ड गणितज्ञ है। बड़े-बड़े कॅम्प्यूटर को लजा देने-हरा देने वाले उनके गणित के प्रयोग (सौ आँकड़ों का सौ आँकड़ों 100 Digits x 100digits से गुणाकार पल भर में कर दिखाना) आन्तरराष्ट्रीय जगत् में हो चुके हैं।

यह मन का क्षेत्र है। और ध्यानावस्था में तो मन सम्पूर्ण रूप से शान्त हो चुका है। वह अपने "होनेपन" में है, नष्ट या भ्रष्ट नहीं हुआ है। पर एकाग्रता एवं ध्यान की दिशायें भिन्न हैं। आप को जाना है उत्तर में, और चलने लगे दक्षिण की ओर ! तो आप के निर्धारित समय में तो नहीं पहुँच सकेंगे ? पूरी पृथ्वी घूमकर (तब तक उत्तर की मंजिल पर लक्ष्य लगा रहा तो) शायद पहुँच भी जायेंगे।""इसलिये एकाग्रता की प्रक्रिया का ध्यानावस्था के उदय से मुझे जरा भी सम्बन्ध नहीं दिखता।

●

- **ध्यान तो समग्र व्यक्तित्व की अवस्था है; वह जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण है, उस अवस्था में जाने के लिये मन की तटस्थता सीखी जा सकती है।**
- **ध्यान तो समग्र व्यक्तित्व का विकास एवं परिपाक है। जैसे शरीर और मन का कुमार अवस्था से यौवन में एक साथ उत्थान होता है, यौवन कहीं से लाया नहीं जा सकता वैसे ही ध्यान खरीदा या कमाया नहीं जाता।**

प्रश्नोत्तरी

दि० २७-१-८८ दोपहर

शरीर में जिस प्रकार अलग-अलग अवस्थायें जागृत होती हैं, और सर्वेन्द्रियों के द्वार से प्रकट होती हैं, उसी प्रकार चेतना में कर्ता-भोक्ता द्रष्टा—ये अवस्थायें उदित होती हैं, प्रकट होती हैं। इन से परे मौन नाम की अवस्था है, जो एक स्वतन्त्र आयाम भी है। पर वह मंजिल नहीं, ध्यान के मार्ग का एक पड़ाव-भर है। इस पड़ाव या बिन्दु पर संस्कारों के आवरणों से सजी हुई चेतना शान्त पड़ती है, और संस्कारमुक्त चेतना जागृत होती है। किसी ने पूछा है :—

प्रश्न—मौन सध-गया है यह कैसे मालूम पड़े ?

उत्तर—जिसे हम सामान्य रूप से जाग्रत् अवस्था कहते हैं, उस में किसी भी प्रयोजन के बिना यदि विचार न उठें, कोई विकार न उठे, सङ्कल्प न हो, विकल्प न हो,—ऐसी अवस्था रहने लगे तो वह मौन-नामक आयाम का एक लक्षण है। कुछ काम करना हो, जिम्मेवारी हो, तो उसे पूरी करने जितने विचार आयेंगे, उतना ज्ञान का उपयोग भी होगा। अनुभवों का विनियोग होगा। पर काम पूरा होने पर फिर वह ज्ञान का तांता बँधा नहीं रहेगा। कोई योजना बनानी हो (घर के काम की व्यवस्था करनी हो, कहीं बाहर जाना हो—उस की तैयारी कैसे करें—इत्यादि) तो पूरी सावधानता बरतते हुए, जानकारी का उपयोग किया जायेगा। और फिर वह विचार मस्तिष्क से अलग हो जायेगा। जैसे काम या वस्तु हाथ से अलग हो जाय। यह नहीं कि वही की वही बात मन में, दिमाग में घुलती रहे।

इसलिये मैं ने कहा कि परिस्थिति की आवश्यकता के बिना दिमाग में—मन में कोई विचार, संकल्प-विकल्प उठते ही नहीं। मृदंग तबला-ढोलक में जैसे शून्य भरा रहता है, उंगलियों की थाप पड़ते ही कलाकार के मन के बोल उस वाद्य में से निकलने लगते हैं, वैसे ही परिस्थिति की आवश्यकता का स्पर्श चेतना को होने पर प्रतिसाद की तत्परता रहती है।

अपना कर्म या शब्द मौन में से उठा है इस का चिह्न या प्रमाण क्या होगा ?—यही कि उस में आवेग या आवेश नहीं होगा। उत्कटता होगी, गम्भीरता व ठोसपना होगा, स्नेह की ऊष्मा होगी, रूखा-सूखा नहीं होगा। पर आवेश का उन्माद वहाँ नहीं होगा। यदि वास्तव में ही यह मौन २४ घण्टों में से १२ घण्टे टिक सके !–यानी ऐसी शून्यावस्था में मनुष्य रह पाये कि केवल प्रतिसाद-मात्र के लिये वह शेष हो, उसे समाज से कुछ भी न चाहिये होगा। उसे किसी से अपनी तुलना नहीं करनी है, स्पर्धा में नहीं पड़ना है, किसी से "बढ़ कर" या "किसी के जैसा" नहीं बनना है। जो है उसी को अभिव्यक्ति करने में उसे सन्तोष है, परितृप्ति है। "आत्मनि आत्मना एव तुष्टः" किसी से कुछ माँग नहीं उसकी ! अपने पुरुषार्थ से जो कुछ हाथ में आये, उसे आनन्द से भोग लेगा पर कहीं से सुख माँगने नहीं जायेगा (The person does not have a begging bowl in hand & does not go bargaining in the relationships. ऐसी एक निस्पृहता रहती है। ऐसा यदि दिखाई दे–तो समझना होगा कि मौनावस्था प्रतिष्ठित हुई है।

जो ऊर्जा आनुवंशिक नहीं है, मानव-सभ्यता-संस्कृति ने जिसे स्पर्श नहीं किया है, ऐसी संस्कारातीत ऊर्जा यानी प्रज्ञा जागृत हुई हो तो उस व्यक्ति के बोलने-चलने, व्यवहार करने में एक सदास्फूर्त जीवन्तता, उत्फुल्ल जीवनी शक्ति (vitality) दिखायी देती है। उस का शारीरिक शक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। जीवन का ओज कह सकते हैं उसे। आयुर्वेद में 'ओजस्' का बहुत महत्त्व है, धातुगत ऊर्जा को वहां ओजस् कहा गया है।

स्वयं को केन्द्र में रख कर कोई भी विचार न उठने के कारण, उस व्यक्ति का जो चिन्तन, दर्शन, व्यवहार होगा वह प्राणिमात्र के लिये होगा "सर्वभूतहिते रताः" ज्ञानेश्वर-महाराज के शब्दों में—"ऐसे व्यक्ति का अस्तित्व सब के लिये मांगल्य की वर्षा जैसा हो जाता है।" मौनस्नात, मौन-प्रक्षालित, शुचिर्भूत व्यक्तित्व हो जाता है। प्रज्ञा के जागरण के कारण एक अद्वितीयता, अनोखापन प्रकट होता है। चारों ओर मानो एक आकर्षण का वलय छाया रहता है। क्यों कि जहाँ शुद्धि है, पवित्रता व माङ्गल्य है वहाँ आकर्षण स्वाभाविक होता है। इसीलिये ऐसे व्यक्तियों द्वारा असामान्य, विशेष कार्य 'बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय' होते रहते हैं।

संकल्प-विकल्प-विचार आदि नहीं उठते—इस से यह न मानें कि वहाँ जड़ता, मूर्च्छा (enertia) है, निष्क्रियता है।—वैसा यदि हो, चित्त में तत्परता-तरलता-स्फूर्ति-चपलता न हो, इन्द्रियों में सावधानता न हो, तो समझ लेना चाहिये कि यह मौनावस्था नहीं है, बल्कि तमोगुण-प्रधान जड़ता है। वह प्रमाद-निर्माण करती है। "प्रमादो वै मृत्युः"।

मौन के आयाम की ताज़गी, लहलहातापन कुछ अलग ही होता है, हमेशा तरोताजा-स्फूर्ति भरा ! शरीर थकेगा, वृद्ध होगा, जीर्ण-जर्जर होगा पर भीतरी ताज़गी कभी मुरझायेगी नहीं।

यह मौनावस्था ध्यानावस्था के मार्ग का एक पड़ाव-भर है। इस में वैयक्तिक, किंवा मानवीय संस्कारयुक्त ऊर्जा शान्त हो जाने पर भी अन्य ऊर्जा का हलन-चलन वहाँ होता रहता है। और ध्यान नाम के आयाम में यह वैश्विक ऊर्जाओं की हलचल भी शान्त हो जाती है। असामान्यता, असाधारणता, अद्वितीयता आदि जो चमक-दमक थी—वह भी शान्त हो कर सहजता आती है। सहज-स्फूर्त व्यवहार होता है। इसलिये ध्यान का आयाम मौन से परे का आयाम है। वहाँ केवल सत्ता है, शक्तियों का नर्तन नहीं।

प्रश्न—मौन के आयाम का वैयक्तिक और ऐहिक लाभ क्या है ?

उत्तर—उपयोगितावादी मस्तिष्क यह पूछेगा ही तो ! 'हम कुछ करें'-'न करें' उस का भी कोई फायदा होगा या नहीं ?—वह विचारों-विकारों के दबाव-तनाव से मुक्त एक विश्रान्ति का आयाम है। उस सम्पूर्ण विश्रान्ति की अवस्था में जो सञ्जीवक ऊर्जायें काम करने लगती हैं, उन के कारण शरीर की अनेक आधि-व्याधि दूर हो जाती है। क्योंकि जीवन में—निसर्ग में—मिट्टी-पानी-सूर्यकिरणों में सञ्जीवन की शक्ति है तो मनुष्य शरीर में नहीं होगी ? अतः ऐहिक फायदा यह तो है ही कि शरीर के अनेकों आधि-व्याधि दूर होते हैं, मन के जख्म-घाव भर जाते हैं, रुझ जाते हैं। (Healing takes place) मन को भाग-दौड़ (यह करना है, वह करना है, उसे मिलना है, अमुक किये विना चलेगा ···इत्यादि) दिन-भर चलती रहती थी, उस से अलग हट कर जो घण्टा-दो घण्टे आप अलिप्त हो कर बैठते हैं, उस से मन को, प्राणों को मिलने वाली विश्रान्ति बड़ी महत्वपूर्ण है। फिर, मौन सध जाने पर, कोई आप से कुछ भी कहे—उसे आप शान्ति से, धैर्य से सुन सकते हैं। आज हम पूरा-पूरा सीधा सुनते ही नहीं। दूसरे के मुंह से दो-चार शब्द निकले कि न निकले—इतने में हमारे

पूर्वग्रह उछल पड़ते हैं, और हम कह बैठते हैं—"समझ गया, बस अब और सुनने की जरूरत नहीं !" हमारे अनुमान, पूर्वग्रह निष्कर्ष सब उभर आते हैं और सामने वाले व्यक्ति का वाक्य पूरा होने से पहले ही हमारे अभिप्राय तक बन चुके होते हैं। (The criminal impatience does not allow the act of listening to happen, to occur) श्रवण, दर्शन हो ही नहीं पाता, इतनी अधीरता रहती है। इसीलिये फिर अन्याय होता है सामने वाले पर। उस के मन में भी न हो ऐसे अभिप्राय उस पर लाद कर, आरोपित कर के हम अलग हो जाते हैं।

अतः मौन से एक बड़ी शक्ति पैदा होती है कि आप दूसरों की ओर देख सकते हैं, उन की बात सुन सकते हैं। किसी परिस्थिति का विचार करना हो—कोई चुनौती, संकट सामने हो, तो उस की ओर स्वस्थता से देख सकते हैं, चिन्तन कर सकते हैं। घबरा नहीं जाते. मन उछल-कूद नहीं करता, मनुष्य धीरता-गम्भीरता से जीवन की ओर देख सकता है। कितने ही अनर्थ हमारी अधीरता के कारण बोले हुए शब्दों, और की हुई क्रियाओं से घटित होते हैं। जो मन में न हो वह बोल जाते हैं, जो अभिप्रेत न हो वह कर बैठते हैं—यह सब अधीरता से उत्पन्न असन्तुलन के कारण होता है। (Impatience stimulates neurological imbalence) ऐसी उत्तेजना और धाँदली चित्त पर छा जाती है अधीरता के कारण।

कुटुम्बों में, संस्थाओं में, समाज में कितनी तरह की गलतफहमियाँ और झगड़े-कलह ऐसे असन्तुलित व्यवहारों के कारण ही हो जाते हैं, उन का कोई गहरा तात्त्विक बोज नहीं होता, पर मन फट जाते हैं—बिगड़ जाते हैं। यदि मौन सध गया हो—तो ये अनर्थ टलेंगे।''''कोई एक दम बौराया हुआ—गुस्से से उफनता हुआ बड़बड़ाता सामने आये तो यह व्यक्ति उस से शान्ति से पेश आते हुए कहेगा कि "भाई ! हुआ क्या है ? जरा शान्ति से कहो तो सही !"''''सामने के व्यक्ति के चित्त की अशान्ति, क्रोध, न्यूनतायें हमारे भीतर प्रतिध्वनि नहीं उठातीं। हम में अशान्ति, क्षोभ जाग्रत् नहीं करतीं। हम में वे न्यूनतायें या विकार हों ही नहीं—ऐसा नहीं। परन्तु आघात-प्रतिघात, क्रिया-प्रतिक्रिया इस स्तर पर से मनुष्य की चेतना ऊर्ध्व हो जाती है, (In one sweap of attention) अवधान के एक सपाटे में आप सामने वाले की क्रिया और अपने चित्त में होने वाली प्रतिक्रिया—दोनों को क्षण भर एक साथ देख सकते हैं। (objective situation & the subjective reaction) दोनों का ही शिकार न बनते हुए सन्तुलित कर्म आपके हाथों घटित हो सकते हैं—

[इस से आगे वाला प्रश्न यहाँ लूं या नहीं यह संकोच चित्त में है। क्योंकि वह एक महान् व्यक्ति के जीवन के विषय में है। उन महान् व्यक्ति ने स्वयं अपना जीवन लिखा नहीं है। दूसरे द्वारा लिखे गये चरित्र ग्रन्थ पर आधारित प्रश्न है।"""व्यास पीठ पर बैठने पर "व्यक्ति" का लिहाज नहीं रखा जा सकता—As law respects no person,—Truth respects no person—प्रश्न को तटस्थता से ही देखना पड़ता है।]

प्रश्न—पूपुल जयकर ने श्री जे. कृष्णमूर्ति जी की जीवनी में लिखा है कि "जब वैश्विक चेतना का अवतरण J. K. के व्यक्तित्व में होता था तब उन के मस्तक में बहुत वेदना होती थी, वे मूर्च्छित हो जाते थे।""" तो आत्मसाधना करने वाले साधकों के जीवन में भी ऐसी वेदना के प्रसङ्ग आते हैं क्या ? स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—मैंने वह ग्रन्थ देखा अवश्य है (समय न मिलने से—) अभी पूरा पढ़ा नहीं है। हमें इस प्रश्न के लिये जे. कृष्णमूर्ति नाम के व्यक्ति की थोड़ी भूमिका देखनी पड़ेगी। मैडम ब्लॅवेड्स्की ने ब्रह्मविद्या-संघ (Theosophical society) स्थापित किया—१९०० के अन्त में। इस संघ द्वारा उन्हें मुख्य रूप से दो काम करने थे। एक—इस जगत् में जितने भी धर्म हैं उनके मूल में जो तात्त्विक साम्य है (Fundamentals of religions) वह देखना, उन का समन्वय करना, विज्ञान के कारण निकट आये हुए इस बहुभाषी-बहुसांस्कृतिक बहुधर्मी जगत् का समूची मानवजाति (global human being) में परस्पर आदान-प्रदान, विनिमय हो, परस्पर सहिष्णुता ही नहीं—सख्यभाव-निर्माण हो—यह उदात्त हेतु व उद्देश्य था भ्रातृसंघ का। दूसरा—मैडम ब्लॅवॅड्स्की ने देख लिया था कि विश्व का रहस्योद्घाटन करने के लिए बुद्धि समर्थ नहीं है। बुद्धि का प्रामाण्य स्वीकार कर के विश्व का रहस्य समझा नहीं जा सकता। विज्ञान की चकाचौंध दुनिया के सामने आ रही थी। योरोप में औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी। योरोप-अमेरिका में भोगवाद (Materialistic Philosophy) का जोर था। ऐसे समय बुद्धि प्रामाण्य (Verification on the material level of Ultimate Truth, the nature of Ultimate Reality) द्वारा चरम सत्य का स्वरूप समझना सम्भव नहीं है—यह उन महामहिला ने देख लिया था। उन्होंने बताया कि व्यक्त के पीछे जो अव्यक्त जगत् है जो व्यक्त से भी अधिक व्यापक है, उस अतीन्द्रिय जगत् में बहुत सी घटनायें हुआ करती हैं।—उस विश्व (Occult, transcendental) के अनेक रहस्य लोगों के सामने रखे। (She was a great

Occultist) उन के बाद भ्रातृसंघ की डोर आयी डॉ० एनीबेसेन्ट के हाथों में ! प्रखर बुद्धिशाली प्रतिभाशाली व्यक्तित्व, (sceptical by nature) अज्ञेयवादी भी। वे तथा श्री लेड् बिटर थियॉसॉफी के दर्शन पर मुग्ध हुए। दोनों के चित्त में आया कि जगत् के उद्धार के लिए केवल बुद्धि प्रामाण्य के खण्डन से काम नहीं होगा, केवल अतीन्द्रिय शक्तियों के प्रदर्शन से भी काम नहीं होगा। अवतरण होना चाहिये। अवतरण के लिये–The great seven Masters (अतीन्द्रिय जगत् में विराजमान "गुरु"—स्थानीय विभूतियाँ) के अवतरण के वाहन (Vehical)—जगद्गुरु हो सकने योग्य कोई व्यक्ति होना चाहिये।····विस्तार में मुझे उतरना नहीं है, पर वह पूर्व भूमिका है। उस उद्देश्य के लिये जिस किशोर को उन्होंने हाथ में लिया,—उसे इस अवतरण का वाहन बनाना था—Christ Lord Matreya, The World Teacher (भगवान् मैत्रेय, जगद्गुरु)—सब का समन्वय वहाँ करना था। इस के लिये अनेकों प्रकार की क्रिया-प्रक्रिया उन किशोर-तरुण से करा लेने के प्रयत्न होते रहे। यह भूलना नहीं चाहिये।

यह कोई उस परम सत्ता, वैश्विक सत्ता (The isness of life) के प्रगटीकरण के लिये प्रयास नहीं थे। व्यक्त के पीछे का अव्यक्त तक का दर्शन था। उस से परे के अनन्त, की बात नहीं थी। Supreme Power यह शब्द अव्यक्त के लिये कहा जा सकता है—अनन्त के लिये नहीं। अव्यक्त में अनेक ऊर्जायें क्रियाशील हैं। यीशू ख्रीस्त जो जो गये, उनकी चेतना भी वहाँ है ही। देह मरता है, चेतना नहीं मरती। अतः ईसा की चेतना, बुद्ध की चेतना, ज्ञानेश्वर की चेतना, कॉन्फ्यूशियस की चेतना ऊर्जा के रूप में अव्यक्त में है ही। जो अनन्त सत्ता-परमसत्ता है उसके एवं व्यक्त सत्ता के बीच में ये महात्मविभूतियों की ऊर्जायें रहती हैं। इन ऊर्जाओं में से किसी विशिष्ट से सम्पर्क साध कर, वह अवतरित हो इसका प्रयत्न होता है। हमें इन ऊर्जाओं, Supreme Powers तथा परम सत्ता के बीच का फर्क समझ लेना चाहिये। श्री कृष्णमूर्ति कहते थे कि उन्हें व्यक्तियों के नाम न दो! अधिक से अधिक "Supreme Power" कह सकते हैं। आखिर-आखिर में उसकी जगह "Supreme Intelligence" शब्द-प्रयोग किया करते थे। ये जो अव्यक्त या Eather में स्पन्दनशील ऊर्जायें हैं, उन्हें अपने भीतर आकृष्ट करने और उनका वाहन अपने शरीर को बनाने का—वे ऊर्जायें इस शरीर द्वारा काम करें,—इसका प्रयत्न करें तो वह अस्वाभाविक प्रयत्न ही है। J. K. का शरीर

जन्म से तो दुर्बल ही था; उनके कई भाई-बहनों की किसी न किसी बीमारी से मृत्यु हो चुकी थी। श्री कृष्ण जी को "जगद्गुरु" पद पर प्रतिष्ठित किये जाने के हेतु से योगाभ्यास कराने तथा २५-३० वर्ष तक अत्यधिक सार संभाल रखी जाने के कारण वह शरीर कसा गया। पर आनुवंशिक रूप से पिण्ड दुर्बल था। उसमें इतनी वेगशाली ऊर्जाओं को आकर्षित करना, उनके व्यक्त होने के लिये वाहन बनना होता था इसलिये मस्तिष्क को वेदना-कष्ट होना स्वाभाविक ही था।

अन्य साधकों के लिये तो यह सवाल ही नहीं! जिन यातनाओं व परिश्रम में से कृष्ण जी को गुजरना पड़ा वह भयङ्कर अग्निपरीक्षा थी। हम-आप जैसे सामान्य साधकों को चिन्ता रखने की जरूरत नहीं कि अब हम ध्यान में बैठते हैं तो वैसा कष्ट हमें भी होगा! उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं यहाँ। और यदि कोई आपको किसी विशिष्ट ऊर्जा का वाहन-साधन-माध्यम बनाना चाहते हों तो आप पहले ही वहाँ से निकल जाइये। अपना नन्हा सा दिया लेकर उस स्वायत्त प्रकाश में जीना भला।

J. K. का यह जीवनी-ग्रन्थ जिन्होंने सावधानी से देखा, साथ-साथ 'मेरी लचिंग्स्' का लिखा ग्रन्थ भी देखा हो तो J. K. के साथ हुए संवादों में आता है कि "यह सब जो मैं कहता हूँ वह उस छोटे लड़के ने "अम्मां" से सुना था। (डॉ० बेसेन्ट को वे "अम्मां" कहते थे)—इसीलिये क्या आज यह Supreme Powers की बात कही जा रही है?" "Did they used the boy becaues of the vacantness he had since the childhood! Did they used it because it was Brahman body, purified to Brahmanical conditionings since ages?"

इसलिये यह लिखा गया है कि "Super Powers" आयीं, उन्होंने मुझे शरीर में से निकाला, मुझ पर तरह-तरह के प्रयोग किये। फिर वापस उसे उस शरीर में डाल दिया। यह सब जो मैं कहता हूँ वह बचपन में ऐसी बातें सुनी होने के कारण कह रहा हूँ क्या?"—ऐसे प्रश्न उन्होंने दो बार किये हैं। "कौन है यह कृष्णमूर्ति? क्या है?" फिर कहते हैं "मुझे मालूम नहीं। आप शायद खोज निकाल पायेंगे।" "पानी स्वयं अपनी गुणवत्ता व प्रकृति कह नहीं सकता, वैसे ही मुझे भी कहना नहीं आता।" इतने महान् व्यक्ति! जिन्होंने अपनी प्रज्ञा के उज्ज्वल प्रकाश में सारी दुनिया को जगमगा दिया, ७०-७५ वर्ष तक इस पागल जगत् में समझ भरी एवं विशद स्पष्टता वाली वह अकेली ही आवाज गूँजती रही मनुष्य को संस्कारों से मुक्त स्वाधीन बनाने के लिये प्रयत्नशील रही

(The only & the lonely voice of sanity & clarity in this mad world for setting man free of conditionings) उनमें इतनी नम्रता थी कि कह सके—"मुझे मालूम नहीं, यह क्या है ? पर होता अवश्य है।"

अपने घरों में बच्चों को बढ़ते हुए हम देखते होंगे न ! दस वर्ष पार कर लिये, १३-१४ वर्ष के हुए, (Puberity Period आया) तो शरीर में अलग-अलग तरह की शक्तियाँ जागने लगीं, ऊर्जाओं का सञ्चार होने लगा। तब शरीर में कितना प्रक्षोभ होता है ? इसीलिये वयस् के १२ वें-१३ वें वर्ष से लेकर १८-२० वर्ष का होने तक कितने असन्तुलन शरीर-मन में पैदा होते हैं, उनमें ताल-मेल बैठाना नहीं हो पाता। अलग-अलग दिशाओं में वे शक्तियाँ खींचती रहती हैं। तारुण्य-नवयौवन में ग्रन्थिगत-स्नायुगत-मांसपेशीगत शक्तियाँ जागने की यह जैसी एक शारीरिक घटना है, वैसे ही शरीर में अनेक सुप्त शक्तियाँ पड़ी हैं, उन्हें हठयोग, तन्त्र, मन्त्रयोगादि के अभ्यास से जगाया जा सकता है। जब-जब कोई शक्ति जागृत होती हैं—तब प्रत्येक बार वह अवधि कष्टप्रद बीतती है। शरीर को उस शक्ति से सामञ्जस्य बैठा कर कुछ व्यवस्था करनी पड़ती है। To be adjusted with freequency & the velocity of the energy.

यह हम अपने घरों में सामान्य जीवन में भी देखते हैं, तो उक्त विभिन्न प्रकार के साधनामार्गों ने यदि सुप्त शक्तियों को जगाया, जबर्दस्ती कुण्डलिनी जागृत की (raping the consciousness, the psyche) (अपने आप कुण्डलिनी जागी हो तो कोई कठिनाई या असन्तुलन नहीं आता पर बलपूर्वक जगायी) गयी हो तो—भयङ्कर कष्ट होता है। शरीर में असाध्य उष्णता बढ़ जाती है, सिर में चक्कर आते हैं, घबराहट होती है, किसी को भूख नहीं लगती, किसी को नींद नहीं आती।....

और फिर एक बार उस शक्ति से शरीर ने अपना मेल बैठा लिया, हम यदि उस शक्ति से घबराये नहीं, थोड़ी शरीर की मदद कर दी। उष्णता बढ़ी तो उससे कोई कष्ट न हो, शरीर में नुक्सान न हो इसका उपाय कर दिया, उष्णता को दबाया नहीं, केवल शमन किया। तो थोड़े दिन में वह उष्णता से होने वाला कष्ट समाप्त हो जाता है। एक-एक शक्ति जागृत होती है तो उससे कुछ-कुछ वेदनायें होती हैं, उनमें से गुजरना पड़ता है।

विशिष्ट प्रक्रियाओं वाली साधनाओं से अवश्य अनेक प्रकार की वेदनाओं में से गुजरना होता है, शक्तिजागरण के लिये परिश्रम करना पड़ता है। उसकी थकान भी कुछ समय लेगी ही।

इसलिये तन्त्रमार्ग, मन्त्रमार्ग, हठयोग—जिनमें कोई प्रक्रियायें हैं, Formulae हैं,—उनका अभ्यास उस-उस योग के निष्णात अनुभवी व्यक्ति के सान्निध्य में, उनके प्रत्यक्ष मार्गदर्शन में ही करना चाहिये—ऐसा विधान उन सम्प्रदायों में किया हुआ ही है। वह कोई मौन का अभ्यास नहीं है कि जिसमें—किसी भी प्रकार की सामान्य या विशेष प्रक्रिया का अवलम्बन है ही नहीं। बस जो होता है उसे देखना भर है।

अतः इसके लिये अनुभवी व्यक्ति के समीप रहना आवश्यक नहीं। अपने घर रहते हुए, अत्यन्त सुरक्षित रीति से कोई भी मौन का अभ्यास कर सकता है। मौन में से जागृत होने वाला अवधान किसी प्रकार का असन्तुलन पैदा करेगा ही नहीं।

यदि आप भक्तिमार्ग में गये हों तब तो कोई चिन्ता ही नहीं, क्योंकि वहां प्रारम्भ ही शरणागति से होता है। "प्रभु ! तुम्हें जो करना हो सो करो ! मैं तेरा हो गया ! तुम ही मेरे हो। तुम जो भी करोगे उसमें मेरा हित ही है !"—यह श्रद्धा लेकर मनुष्य चलता है।

"चारों पुरुषार्थों की सिद्धि। लेकर चला भक्तिपन्थी।"

धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चारों की सिद्धि को अञ्जलि में लेकर भक्तिपथिक प्रभुचरणों में चढ़ा देता है। उसका प्रारम्भ ही श्रद्धा से है, शरणागति ही पहला और अन्तिम चरण है उसका।

यह शरणागति किसी व्यक्ति के प्रति नहीं।—जीवन की परमसत्ता के प्रति है, जो सत्ता सर्वव्यापिनी है, सर्वत्र-सर्वदा-सर्वथा सर्वाकार बन कर जो बैठी हुई है। यही श्रद्धा रहती है "प्रभु है ही।"

"अन्त में गोविन्द आगे-पीछे खड़ा। कुछ भी संकट पड़ने न देता।"

इसीलिये मीरा ने जब चरणामृत नाम वाला हलाहल विष पिया और वह अमृत बन गया (materialization of the throught) उसे चमत्कार क्यों माना जाय। वह तो सूक्ष्म जगत् की एक घटना मात्र है।

अतः भक्तिमार्ग से जाने वाले को कोई चिन्ता नहीं। श्रद्धा का बल है—संभालने वाली शक्ति सर्वत्र बैठी ही है।

"मेरे भक्त हो कर चिन्ता ?
क्या राजा की कान्ता भिक्षान्न माँगे ?"

ज्ञानेश्वर हों, नामदेव हों, तुकाराम हों, मोराबाई हों, सूरदास हों या तुलसीदास हों। ठीक-ठीक कर एक ही बात कहते आये हैं।

"सिया-राम-मय सब जग **जानी**।
करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी।"

"**जानी**" (जान कर) "मानी" (मान कर) नहीं कहा।

इसमें भी यदि शक्तियाँ जागृत हों (ज्ञान मार्ग से जायें, ध्यान मार्ग से जायें या भक्ति मार्ग से, कुण्डलिनी जागने ही वाली है, पर वह अन्तः करण के ऊर्ध्वारोहण के परिणामवश अनायास आनुषङ्गिक रूप से घटित होने वाली घटना है, बलात्कार से करायी गयी घटना नहीं।) तो वे विकास का अंग बन जाती हैं। भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग या ध्यानमार्ग में इन शक्तियों-सिद्धियों का लोभ नहीं होता। तुकाराम कहते हैं—

"मुक्ति मेरी परिणीता हुई—ऋद्धि-सिद्धि दासियाँ पानी भरें।" तुकाराम के घर की अकिञ्चनता का हाल सब जानते हैं, पर शिवाजी महाराज ने वस्त्राभूषण धन भर कर पालकी तुकाराम के यहाँ भेजी—उन्हें बुला लाने के लिए, तो तुकाराम भगवान् को उलाहना देने लगे। "क्यों विठोबा ! तुम्हारी भक्ति क्या मैंने इस पालकी के लिए की थी ? इन वस्त्राभूषणों के लिये भक्ति की थी ! अरे, क्या समझा है मुझे ? मैं वनिया हूँ। इतना सस्ता सौदा यहाँ नहीं चलेगा कि ये तुच्छ वस्तुएँ देकर मुझे बहला दो !" पालकी तुरन्त लौटा दी कि मुझे नहीं चाहिये !

कोई भी एषणा-वित्तैषणा-कामैषणा-लोकैषणा (धन की, कुटुम्ब-सुख की, यश-प्रतिष्ठा-सत्ता की इच्छायें) यदि भीतर न हों तो ये सब जागृत होने वाली शक्तियाँ चुपचाप जहाँ से उठी थीं, वहीं शान्त हो जाती हैं। उनको संगति उस व्यक्ति के जीवन से नहीं है, क्योंकि इसे इनके पार जाना है, "विश्वात्मक देव" से अनुसंधान साधना है।

सन् १९८० में ऋषिवैली में थे तब श्री कृष्णमूर्त्तिजी को कुछ अनुभूति हुई, जिसका उल्लेख उन्होंने "Note book" नाम की पुस्तक में किया हुआ है, फिर उनके जीवनी ग्रन्थों में भी उल्लेख हुआ है :—

"Now the Absolute has been touched. Nothing beyond it."

उसके बादसे उनकी भाषा बदल गयी है। उनके प्रवचनों के वादी-संवादी स्वर और स्थायी भाव बदल गये हैं। आप अध्ययन करके देखें ! "The Supreme Power & the Absolute" का फर्क आप देख सकेंगे ।

व्यक्त-अव्यक्त और अनन्त—ऐसे जीवन सत्ता के विभाग हैं (हवा बन्द डिब्बों जैसे नहीं, अपनी समग्र की विशदता लिये हुए) इन्द्रियगोचर, मन-बुद्धि-गोचर, और इन सबसे अगोचर ।

इसलिये साधकों को किसी भी प्रकार का भय रखे बिना अपने मार्ग पर चलते रहने में कोई हानि नहीं ।

प्रश्न—हम ज. कृष्णमूर्त्ति जी की कुछ पुस्तकें विद्यालय में ले जाते हैं, वहाँ के वाचनालय में देते हैं, तो वहाँ के प्राचार्य या अध्यक्ष बहुधा कहते हैं कि यह पुस्तक यहाँ क्यों रखते हैं—कोई पढ़ेगा नहीं। फिर भी दे दी जाती है, तो कई-कई महीनों के बाद कोई शिक्षक कहते हैं कि हमें मालूम ही नहीं कि यह पुस्तक यहां आयी है।

वे न स्वयं पढ़ते हैं न विद्यार्थियों को बताते हैं। किसी को गहरे अध्ययन का उत्साह नहीं है। क्या किया जाय ?

उत्तर—आप को आश्चर्य होगा, पर मैं यह मानती ही नहीं कि इस देश में कोई शिक्षण संस्था हैं भी ! मेरी बुद्धि को दिखाई नहीं देता कि यहां शिक्षण चलता है।""और अब तो शिक्षकों को भी "नौकरशाही" में शामिल कर लिया गया है, उनको वेतन सरकार देती है। इसलिये "अध्ययन कराना हमारी जिम्मेवारी है"—ऐसा मानने वाले शिक्षक क्वचित् ही कोई बचे होंगे। एक तो शिक्षण को व्यवसाय बना लिया गया, फिर उसमें "ट्रेड यूनियन" आया। अतः नाप-नाप कर, घण्टे-मिनिट गिन कर पढ़ाना, फिर उसमें जानबूझ कर "अतिरिक्त वर्ग" (Extra classes) करना और उनके लिये मजदूरों-क्लर्कों की तरह "Overtime duty" (अतिरिक्त काम) के पैसे चाहना। इतना ही नहीं, बिल्कुल पढ़ाये बिना भी पैसे तो मिलने ही चाहिये। प्रश्नपत्र बेच कर, लिखित उत्तर बेच कर, परीक्षाफल बेच कर भी पैसे कमाने में कोई हिचक नहीं !—अरे, हम कहाँ जा कर खड़े ही गये हैं ? कहाँ के विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय !""जितना सा कुछ पदार्थ ज्ञान देना है—भूगोल, इतिहास, साहित्य, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र—इत्यादि—वह भी ढंग से दिया नहीं

जाता। विद्यार्थी स्वयं परिश्रम करके जितनी सी जानकारी प्राप्त कर लें सो ठीक। सारे देश में दशा प्रायः समान ही है। जो सिखाने के लिये वेतन दिया जाता है, वह भी सिखाने का उत्साह नहीं है।

हमारे एक मित्र का बेटा एक दिन मेरे पास आया और पूछने लगा–"Mahatma Gandhi was zero to the Whole of India"—इसका मतलब क्या है ? उसको कॉपी पर यह लिखा था। बताया कि "आज कक्षा में श्यामपट पर यह वाक्य लिखा था, इस पर लेख लिखना है।" मैं सोच में पड़ गयी कि यहाँ Zero का क्या अर्थ होगा ? आखिर समझ में आया—"पूज्य !" यानी "महात्मा गान्धी पूरे भारत के पूज्य थे" (मराठी भाषा में पूज्य के लिये "०" चिह्न है जिसे शिक्षक ने अंग्रेजी में Zero अनुवाद किया था।) आज कटाक्ष से वह ठीक ही है। (गान्धी जी का स्थान आज के भारत में शून्यवत् हो गया है) ऐसे एकाध नहीं और कहीं पत्रिकाओं में पढ़े हुए भी, प्रत्यक्ष सामने आये हुए अनेकों सच्चे उदाहरण–हिन्दी-गुजराती-मराठी भाषाओं के मैं आपको सुना सकती हूँ। "अब तो बच्चों के हाथ में Calculater दे दिये जाते हैं, इसलिये उन्हें सादा गणित-जोड़-बाकी-गुणा-भाग आदि सीखने की जरूरत नहीं। सचमुच इस देश में शिक्षण की स्थिति लज्जाजनक, खेदजनक है। जब तक अभिभावक वर्ग उठ कर संगठित खड़े नहीं होते—शिक्षण पद्धति में आमूलाग्र परिवर्तन की माँग नहीं करते—तब तक यही हाल रहने वाला है। किन्तु अमेरिकन-रूसो-इंग्लिश शिक्षणपद्धतियों की बेमेल गुदड़ी बना कर यहाँ के लिये शिक्षण पद्धति बनाने के बदले, इस देश की जो सांस्कृतिक विरासत है, उसका अनुसरण करते हुए शिक्षा कैसे दी जाय ? किस तरह विद्यालयों में उसकी संगति बैठायी जाय ?—यह सवाल यदि अभिभावक वर्ग हाथ में न लें, उसके लिये नागरिक-अधिकार के नाते देशव्यापी माँग न खड़ी करें, तो ऐसा ही चलता रहेगा।

जिन्हें लगता हो कि कृष्णमूर्तिजी के ग्रन्थों के प्रति शिक्षक व विद्यार्थियों की रुचि जागनी-बढ़नी चाहिये, उनके प्रति मेरा मत है कि विद्यालय-वाचनालयों में इन ग्रन्थों की भेंट देने के बदले, शिक्षकों-विद्यार्थियों के शिविर लेने चाहिए। उन्हें प्रवचनों के 'कैसेट्स्' सुनाये जायें, 'वीडिओ' दिखाए जायें। पुस्तकें दिखायें, उनमें से विशेष अंश निकाल कर सुनायें इस तरहसे अतिरिक्त कार्यक्रमों द्वारा कुछ उपक्रम किया जा सके तो तरुण-युवकोंको उसमें रस आने लगे।

पिछले सात वर्षों से मैं गुजरात में युवा-शिविर ले रही हूँ। उनके लिये आवेदन पत्र इतने आते हैं कि ना-ना कहते हुए भी २००-२५० युवक हो ही जाते हैं। उसमें महाविद्यालयों-विश्वविद्यालयों के छात्रों के अलावा शिक्षक, रजिस्ट्रार, अन्य अधिकारी भी दर्शक के रूप में शामिल होते हैं। वे युवक-युवतियाँ सब तरह का शारीरिक श्रम-कार्य भी करते हैं, सफाई-रसोई आदि भी करते हैं, प्रार्थना में मौन में बैठते हैं, योगासन सीखते हैं; दिये हुए विषयों का अध्ययन करके आते हैं, वहाँ लघुभाषण भी करते हैं, प्रश्न करते हैं, खूब जी भर चर्चा करते हैं, मुझे थका डालते हैं।

अतः एकदम यह नहीं कहा जा सकता कि युवकों को इतर अध्ययन में रस नहीं है।....१० से १८ वर्ष आयु तक के किशोरों का शिविर लिया था, तब भी हम व्यवस्था कर सकें—उसकी अपेक्षा कहीं अधिक संख्या को माँग थी। इसलिये जिन्हें इस बात से सचमुच लगाव हो और चाहते हों कि नई पीढ़ी इस ओर आये; जिन्होंने कृष्णमूर्त्ति जी का वाङ्मय केवल पढ़ने की वस्तु न माना हो, बौद्धिक रञ्जन का विषय न माना हो, बल्कि जितना कुछ अपनी समझ में आया हो—(Dedication to the truth you understand by studieng the communications)—ऐसी जिनकी श्रद्धा हो, वे विद्यालयक्रम से निरपेक्ष extra carricular activitios के रूप में या शिविरों के माध्यम से ऐसे उपक्रम करें तो अच्छा होगा। शुद्ध विचार का आकर्षण प्रेम के समान प्रबल होता है।

प्रश्न—"सत्य" का आशय क्या है ? हम जीवन में सत्य का आचरण करने जायें तब दूसरों का कल्याण हो होगा यह जरूरी नहीं। संस्था के हित के लिये सरकारी अधिकारियों से कुछ झूठ बोलना-करना पड़ता है; बच्चों को विद्यालय में दाखिल कराने के लिये—Capitation fee देनी पड़ती है। जिसमें दूसरों का हित हो—उस कार्य में यदि कुछ समझौता करना पड़े तो उसे सत्य माना जा सकता है क्या ? महात्मा गांधी ऐसा मानते थे—ऐसा सुना है। पर इस तरह सत्य में सौदा-समझौता करने जायें तो मन को खेद होता है। क्योंकि अपनी समझ में जो आया वह हम नहीं कर रहे हैं, पर दूसरों का नुक्सान न हो इसके लिये जोड़-तोड़ बैठा रहे हैं—ऐसा लगता है।

हम से यदि कोई कपट करता हो तो हम क्या करें ? उलट कर प्रति-कपट ही करें ? "शठे शाठ्यं समाचरेत्" अपनायें ? या हमें जो समझ में आया है, जो उचित प्रतीत होता है वही करें ?

प्रश्न—मन-बुद्धि और चित्त ये शरीर की अलग अवस्थायें हैं क्या? प्रत्येक के निजी कार्य क्या हैं?

उत्तर—यह प्रश्न जिन के मन में उठता हो वे स्वयं अपने में विचार करें कि "मैं परमार्थ अलग, व्यवहार अलग, अध्यात्म अलग, जीवन अलग"—ऐसी दो अलग सत्तायें मानता हूँ क्या? यदि दो अलग सत्तायें मानते हों तो व्यवहार में नफ़ा-नुकसान के नापतौल परम्परा से चलते आये हैं। धर्म-अध्यात्म के लिये अलग मापदण्ड मूल्याङ्कन अलग व आचार संहितायें रखे गये हैं। ऐसे व्यवहार और अध्यात्म को अलग सत्ता मानते हुए यश-अपयश, सफलता-विफलता सब नापी जाती है। ऐसे ये दो अलग विभाग आप मानते हैं क्या?

यदि व्यक्ति साधक हो, जिज्ञासु हो तो उसे यह सवाल खुद को पूछना होगा, इस पर चिन्तन करना होगा। क्योंकि जो समाज आज अन्याय पर शोषण पर, हिंसा पर खड़ा है, उस समाज की नफ़ा-नुकसान की परिभाषायें बोलें, उन्हीं व्याख्याओं पर चलें, तब तो ठीक है कि 'संस्था के हित' के लिये झूठ भी बोलना पड़ता हो तो बोलें, रिश्वत दें! किन्तु यदि व्यक्ति जीवनसाधक होगा तो जीने के कर्म को ही पूजा का पुष्प मानता होगा। वह व्यक्ति कहेगा "संस्था हो, व्यापार की पेढ़ी (Company) हो—मैं गलत काम नहीं कर सकता।" क्योंकि उसने व्यवहार को "जीवन" से अलग निकाल कर नहीं रखा है; और "अध्यात्म" को घर के कोने में या मन्दिर आदि में बैठ कर करने की कोई विशिष्ट क्रिया-प्रक्रिया नहीं माना है। यदि मुझे लगता है कि रिश्वत देना गलत है, समाज में से यह रिश्वत देना-लेना खत्म होना चाहिये, गैर कमाई (अनर्जित—unearned) की आय (income) नहीं रहनी चाहिये, भ्रष्टाचार समाप्त होना चाहिये। तो मैं अपने किसी भी कर्म द्वारा तो भ्रष्टाचार में मदद नहीं ही करूँगा। फिर कम्पनी का मालिक कहेगा कि तुम्हारी नौकरी जायेगी! तो जाय वह!

अपनी तैयारी (भीतर की) देख लेनी चाहिये कि अपनी समक्ष में आये हुए सत्य को जीने के लिये कहाँ तक जा सकता हूँ? वेद-उपनिषद्-शास्त्रों की व्याख्यायें जानें दें! प्रत्येक मनुष्य के भीतर एक विभूति (शक्ति faculty) है, एक संवेदनशीलता है जो सत्य व अनृत की, सही-गलत की, उचित-अनुचित की पहचान करा ही देती है।

"प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वं····

सच्चित्सुखं परमहंसगतिं तुरीयम्"

हंस जैसे पानी मिले हुए दूध में से केवल दूध लेकर पानी छोड़ देता है, उसी प्रकार हमारे भीतर जो ईशशक्ति है—"ईश्वर:सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति""सर्वभूतनिवासोऽसि" उस के कारण सत्य-असत्य को पहचान सबके भीतर है। दोनों के अन्तर की पहचान अभिजात मानवशरीर के अन्तः करण में कोई भी ग्रन्थ पढ़े-सुने बिना स्वतः होती है। किन्तु यदि आप ने व्यवहार की सत्ता अलग ही मानी हो, उस की अलग आचारसंहिता का समर्थन चित्त में हो—कि व्यवहार में तो जरूरत के मुताबिक झूठ-सच किये बिना काम नहीं चलता, तो दूसरों के भले के नाम पर आप सब करने को तैयार हो जायेंगे—रिश्वत देंगे, झूठी खुशामद करेंगे, capitation fee (बच्चों को दाखिला दिलाने के लिये विद्यालय को विशेष दान) भी देंगे।

प्रश्न यह नहीं कि आप क्या करते हैं ? अधिष्ठान कहाँ है—यह प्रश्न है। अतः आप को जो उचित लगता हो, सत्य प्रतीत होता हो वही करिये न ! फिर "अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्"—को देखते हुए—जिस से किसी को उद्वेग न हो ऐसी पद्धति से बोलेंगे, नम्रता से कहेंगे-उद्दण्डता या उद्धतता से नहीं, यह तो होगा, लेकिन बोलेंगे सत्य ही। उसमें दृढ़ता अवश्य रहेगी।

यदि हम से कोई कपट, अन्याय करता हो तो भक्त या साधक या आध्यात्मिक व्यक्ति होने के नाते गर्दन झुका कर अन्याय सहन नहीं करेंगे (एकाध बार किसी ने कपट किया, हमारे ध्यान में आ गया कि यह कपट कर रहा है, तो अगले समय उस से पाला पड़ने पर हमारे व्यवहार में एक सावधानता रहेगी। दूसरी बार उसे कपट या अन्याय करने ही न देंगे। "शठं प्रति शाठ्यं" नहीं करना है, किन्तु अन्याय के सामने गर्दन नहीं झुकायेंगे। अन्याय, कपट का प्रतिकार भी सभ्य रीति से किया जा सकता है—यही तो महात्मा गांधी सिखाना चाहते थे। प्रतिकार ही न करेंगे ऐसा नहीं, पर प्रतिकार का माध्यम व पद्धति वह नहीं होगी जो वह (अन्यायी व्यक्ति) कर रहा है।

But fight not your adversary with the same weapons which he or she uses. Resist not evil with evil.

"विश्व हुआ हो वह्नि तो सन्त बनें पानी !"—मुक्ताबाई ज्ञानेश्वर से कहती हैं—"द्वार खोलो ज्ञानेश्वर !" अग्नि को शान्त करने के लिये पानी का उपयोग, शुद्धता के सामने औदार्य, द्वेष के सामने स्नेह का उप-

योग, कुटिलता के सामने ऋजुता का उपयोग—यह कौशल्य है, हार मानना नहीं, डरना, दबना नहीं है।

कपट के सामने प्रतिकपट करेंगे तो फिर जवाब में और प्रतिकपट होगा—ऐसी कपट शृंखला-वैर शृंखला का कहीं अन्त नहीं। यही करते-करते तो मानव-जाति आणवास्त्रों "न्यूक्लियर अस्त्रों" तक पहुँची है और ग्रह-युद्ध (star-war) तक जाने की तैयारी है।

(We are not like the islands in the global human family.) हम जो एक-एक व्यक्ति हैं—हमारा समग्र-वैश्विक-जीवन-गठन से निगूढ़ सम्बन्ध है, हम भूमण्डल पर पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र लघुद्वीपों जैसे नहीं। आज के सन्दर्भ में वे islands भी कहाँ स्वतन्त्र पृथक् हैं ?)

Interrelationship of each & everything which exists is the content of Mystery ! यह परस्पर सम्बद्धता ही तो भगवत्सत्ता का रहस्य है।

यदि कपट के सामने ऋजुता बरतना हमें आ गया तो हम समझ पायेंगे कि मेरे सत्याचरण से दूसरे का कल्याण हो या नहीं, पर मेरा अकल्याण तो नहीं होगा। पर वह (सत्याचरण) करते हुए आशा मन में न रखें कि समाज सहयोग करेगा। इस दुनियावी जीवन में कोई हमारा नुकसान नहीं करेगा—यह आशा भी न रखें। कीमत चुकानी पड़ती है। उस के बिना सत्य जीना, प्रेम जीना नहीं हो सकेगा।

आज के समाज में (हमेशा की तरह) दैवी व आसुरी शक्तियों में संघर्ष चल रहा है, तो दैवी शक्ति भी बनी रहनी चाहिये न ! आत्मबल होना चाहिये। हमारे पास सद्गुणों की बातें हैं, लम्बी सूची है उन की, किन्तु उनमें जीवन का तेज-ओज नहीं रहा है।

मनुष्यों को मनुष्यों के प्रति ईर्ष्या-द्वेष कर के लड़ने के लिये, एक-दूसरे से अपने बचाव के लिये अस्त्र-शस्त्रों का उद्योग, युद्ध का भी विज्ञान (War-science) विकसाया है मनुष्य जाति ने। हमारी आपसी लड़ाइयाँ होती हैं छोटी-छोटी, उनमें प्रयुक्त होने वाले अस्त्र-शस्त्र भी छोटे, सूक्ष्म पर पैने (तेज धारदार) होते हैं। पर यही करने में जिन्दगी गँवानी है क्या ?

अतः सत्तायें दो माननी हैं या अखण्ड एक सत्ता ही सत्य है यह समझना है ? मिट्टी के घड़े-नांद या परात को कहीं से भी स्पर्श करें—वह मिट्टी को ही स्पर्श होता है, तो वास्तव में यदि विश्व की उत्पत्ति परम-

तत्त्व आत्मा से हुई हो, "सच्चिदानन्द" परमतत्त्व की लक्षणा हो—तो हमें भीतर से बल प्रतीत होता है, शक्ति आती है असत्य के सामने सत्य जीने की, द्वेष के मुकाबले प्रेम जीने की।

पश्चिमी सभ्यता में, पश्चिमी देशों में ऐसा सर्वतोव्यापी समग्र जीवन-दर्शन (The wholistic approach to life) नहीं है। वहाँ तो "अस्तित्व बनाये रखने के लिये संघर्ष" (struggle for existense) तथा सर्वाधिक बलशाली को विजय (suvival of the fittest, mightiest) की बात है। वह बल--शस्त्र का हो, धन का हो, सत्ता का हो। यदि हमें वही मान्य हो, वही अच्छा जीवनदर्शन लगता हो, तो वह "बल" कमाने की दिशा में ही हमें चलना होगा--जैसे भी बने "बल" इकट्ठा करना होगा। तब फिर मानवीय मूल्यों की, मानव के वैशिष्ट्य की बात भूल जानी होगी। भारतीय संस्कृति में तो जीवन की एकता का--अविभाज्य, एकरस, अखण्ड जीवनसत्ता का दर्शन है—वेदकाल से चला आया हुआ—वही अपना वैशिष्ट्य है। "ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।" यह केवल लिखने की बात नहीं, इस मन्त्र के पीछे महान् क्रान्तदर्शन है।—यह ध्यान में आया हो, तो "शठे शाठ्यं समाचरेत्" में बालिशता दिखाई देगी।

●

- संसार में रहते हुए सत्य के मार्ग पर चलना हो तो आज संसार जिसे सफलता-विफलता कहता है, मान-अपमान, सुख-दुःख कहता है, उस परिभाषा से ऊपर उठना होगा।
- शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक इत्यादि सभी स्तरों पर यथापूर्व बने रहते हुए सत्य की उपलब्धि असम्भव है।
- सत्य की खोज एक प्रायोगिक विज्ञान है। अपने शरीर और मन के भीतर ही उसकी प्रयोगशाला है।

तृतीय प्रवचन

वि० २८-१-८८ प्रातः

२५ ता० से शब्दों में आप के साथ जो संवाद चल रहा है, वह शब्द के वाहन द्वारा जीवनयात्रा पर निकल पड़े हुए सहयात्री भाई-बहनों से ह गयो मैत्री की बातचीत है। सहज मैत्री की भावना से आत्मीयता कारण होने वाला सख्य-विनिमय है।

"यहाँ जो कुछ भी कहा जाता है वह मौन में से उद्भूत है, अध्यय में से निष्पन्न हुआ है, साधना में से सिद्ध है या क्या है?"—ऐसी पृच्छ कुछ मित्रों ने की है। ऐसी सभाओं में, शिविर में, व्यक्तिगत कुछ बोलन उचित नहीं होता, परन्तु प्रश्न ही सामने आया होने के कारण इतन कहती हूँ कि--

पुस्तक खोलने की वयस् होने से पहले ही (३-४ वर्ष की वयस् में) ३ ही भीतर से ऐसा लगता था कि आँखों को यह जो सारा जगत् दिखा देता है, यह छाया-भर है; इस में से झाँकने वाला, इस दिखते हुए जग का सत्त्व कहीं इसके पीछे छिपा हुआ है। उसो को शायद लोग "देव "ईश्वर" कहते होंगे। उस "ईश्वर" को "सत्य तत्त्व" को देखना है "जीवनं सत्यशोधनम्"—यही लगता था। तभी से उस सत्य को देख की धुन लग गई थी। अतः अपने मन से अध्ययन करती चली, प्रयो करती गयी।

कन्या देह होने के कारण यों तो उन प्रयोगों में मर्यादायें आना स्व भाविक था। पर मेरे माता-पिता ने कभी रोकटोक नहीं की। एक पथ्य कहा था—"भारत भर में घूमना हो तो घूमो ! जो देखना-सुनना सो देखो-सुनो ! पर कभी भी किसी 'व्यक्ति' को 'गुरु' नहीं बनाना ! 'गु रूप में किसी व्यक्ति को स्वीकार नहीं करना।" मेरे माता-पिता का य दृढ़तापूर्वक कहना था कि "जो सत्य विश्व में छिपा है, वह तुझ में भ भीतर पड़ा ही है, सीखो सब के पास, सब जगह जाओ, पूछो, चर्चा करं पर उसे खोज निकालो तुम स्वयं ही !" इसलिये व्यापक अध्ययन हुआ निरीक्षण हुआ, प्रयोग हुए; किन्हीं एक श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ साधु-सन्त संन्यासी- योगी के पास रहना नहीं हुआ, किन्तु सत्सङ्ग अनेकों का हुआ

मुझे ऐसा लगता है कि कम से कम इस देश में जन्मे हुए प्रत्येक व्यक्ति के प्राणों में यह एक अभीप्सा, एक भूख रहती है कि हम कौन हैं ? क्या हैं ? यह सारा जो जगत्-पसारा दिखता है यह किसका है ? इससे अपना सम्बन्ध क्या है ?—ये सब प्रश्न चित्त में उठने के लिये ग्रन्थ देखने की जरूरत नहीं—ऐसी परिस्थिति अब तक तो रही है। पर कुछ लोग उस पागलपन से अपनी सुरक्षा करते हैं। और कुछ लोग वैसा बिगड़ने-पागल होने में धन्यता अनुभव करते हैं और गाते हैं—

"हम बिगड़े, तुम भी बिगड़ो न !"

"पारस के संग में लोहा बिगड़ा, जो बिगड़े सुवर्ण ही हुए !
चन्दन के संग में वृक्ष बिगड़े, जो बिगड़े चन्दन ही हुए !"

ऐसे खुद बिगड़ कर औरों को भी बिगड़ने का आवाहन देने वाले कुछ सिरफिरे लोग होते हैं। उनमें ही मेरी भी गणना कर लें तो कोई हर्ज नहीं।

इस सत्य की खोज करते हुए जैसे अपने देश का तत्त्वज्ञान देखा, वैसे भारत के अलावा इतर देशों में जो तत्त्वज्ञान है, जो विज्ञान है-मनोविज्ञान है, उसे भी देखने-समझने का प्रयत्न किया। किसी भी पूर्वी या पश्चिमी शास्त्र की परिभाषा में चित्त को अटकने नहीं दिया। सत्यशोधक को एक व्रत पालना पड़ता है कि वह शब्दों का गुलाम न बने। अन्य लोगों के विचारों-अनुभूतियों का संग्रह करके उस उधारी में से निष्कर्ष न निकाले। संग्रह करने की धुन में यदि जिज्ञासु पड़ गया तो सत्यशोधन एक ओर रह जाता है, वह विचारों का, शब्दों का भाण्डार सम्हालते-सम्हालते उम्र बीत जाती है।

सत्यशोधन करते-करते यह पाया। ("पाया" यानी यह कहीं अध्यात्म-पथ का अन्तिम चरण है—ऐसा आशय कदापि मेरा नहीं। जैसे क्रान्ति के इतिहास में-विज्ञान में अन्तिम शब्द अभी कहा नहीं गया है, न कभी कहा जा सकेगा, वैसे ही अध्यात्म में भी "अन्तिम शब्द" कभी नहीं कहा जा सकता। सत्य अनन्त है, जीवन अनन्त है। इसलिये ज्यों-ज्यों मनुष्यजाति जीती जायेगी, जीवन का विकास करेगी, सर्वाङ्गीण विकास करेगी, वैसे-वैसे सत्य की अलग-अलग छटायें मनुष्यजाति को दिखने लगेंगी। वह दर्शन शब्दाकार होगा, शब्ददेह धारण करेगा, वाङ्मय बनेगा। इस सत्यशोधक जमात के हम मुट्ठी भर लोग यहाँ एकत्र हुए हैं—यह समझते हुए ही मैं ऐसा बोल रही हूँ।—) मुझे ऐसा समझ में आया

कि जिसे हम "जीवन" कहते हैं, वह एक सत्ता है, जो सर्वत्र सर्वदा सर्वथा सर्वाकार है। ऐसा कोई आकार-रूप-रस-गन्ध-स्थान-गति नहीं है जहाँ वह सत्ता न हो। वह वैश्विक सत्ता जीवन का परम स्वरूप है; सत्ता ही परमात्मा है। (अपने देश में परिचित शब्द है "परमात्मा"—समझने में आसानी के लिये यहाँ इस शब्द का उपयोग करती हूँ।) जिसे 'परमात्मा' "विश्वात्मा" कहा गया—वह जो विश्वाकार सत्ता है, जगदाकार सर्वाकार जगदाधार है—'भगवान्' "विभु" "प्रभु" आदि सभी संज्ञाओं से जिसे सम्बोधित किया जाता है वह विश्वव्यापिनी सत्ता है।

वह दो रूपों में प्रकट होती या जानी जाती है—एक 'सत्ता' रूप से, दूसरे 'ऊर्जा' रूप से। सत्ता में ऊर्जा है, ऊर्जा ज्ञान-रूप है। सत्ता दिखती है, ऊर्जा जानी जाती है, प्रतीत होती है। ऊर्जा को ज्ञानस्वरूपिणी कहने का एक कारण है। बचपन से, देखते-देखते घूमती आयी, हिमालय में घूमी, गंगोत्री-गोमुख-अमरनाथ, केदारनाथ, बद्रीनाथ घूमी, इधर अमरकण्टक के पहाड़ देखे। और अलग-अलग सभी ऋतुओं में इनके अलग-अलग रूप-लावण्य देखे। मैंने "जीवन" को ही गुरुसत्ता के रूप में स्वीकार किया, इस "जगद्गुरु" से सीखना था तो उसे सब ओर से देखने के सिवा मेरे पास कोई रास्ता नहीं था। मैंने देखा कि इस ऋतु-चक्र में कोई व्यवस्था है। समुद्र के पानी का बाष्पीकरण होना, उससे मेघ बनना, फिर उनसे मधुर अमृत जैसी वर्षा होना, पृथ्वी द्वारा उसे आँचल पसारे झेला जाना, उससे अन्न-वनस्पति उगना, फूल-फलों से सजना, पुनः उनमें बीज बन कर धरती में समाना, और उगते रहना—ऐसा जीवन का प्रवाह-चक्र चलता देखा। मनुष्य-पशु-पक्षी-कीट-पतंग आदि सभी में जन्म-वृद्धि-क्षय-मरण का चक्र देखा, इससे निश्चय हुआ बुद्धि में कि किसी अटूट व्यवस्था बिना यह चक्र नहीं चल सकता। सर्वथा परस्पर विरोधी तत्त्वों को मिल-जुल कर काम करते देखा।—यह जो परस्पर सम्बन्ध है, परस्पराश्रय है यह किसी अन्तर्निहित एकरस व्यवस्था का ही सूचक है। अग्नि और जल सर्वथा विरोधी तत्त्व हैं, पर सागर के पेट में अग्नि बना रहता है। आकाश और वायु में अग्नि रहता है, पानी में मिट्टी घुल जाती है, पर पृथ्वी "समुद्रवसना" है, पानी के भीतर व तले पृथ्वी है और पृथ्वी में पानी रहता है।

पाँचों तत्त्वों का यह परस्परसमाश्रय एवं संवादिता देख कर ऐसा प्रत्यय आया कि जो सत्ता है वह ज्ञानस्वरूपिणी होनी चाहिये। अतः

ज्ञान आत्मा को क्रिया नहीं बल्कि आत्मा का स्वभाव हैं। ज्ञातृत्व सत्ता का शील है, शायद उपादान (content) है ! हम जिसे ज्ञान कहते हैं वह तो मस्तिष्क की क्रिया है (cerebral action) पर वस्तुतः ज्ञान सत्ता का स्वरूप है।—यह सीखा। सत्ता में अगणित ऊर्जायें हैं A cosmic dance of innumerable energies.

इस विश्व-वृन्दावन में असंख्य ऊर्जाओं का नित्य महारास देखने से कभी जो भरता नहीं, नित्यनवीन है वह।

वह ऊर्जामयी सत्ता जैसे विश्वाकार बनी, वैसे देहाकार भी बनी। फिर इन इन्द्रियों के द्वार से निकल कर विषयों को स्पर्श करती है। वही देखना-सुनना-सूंघना-स्पर्श करना-स्वाद लेना है। उसमें हमारा निजी कोई कर्तृत्व नहीं—हम नहीं देखते, आँख खुली तो रूप दिखता है। वह हमारी नज़र में अनैच्छिक क्रिया है, सत्ता में वर्तमान ऊर्जा की वह स्वायत्त क्रिया है। प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा विषयों का स्पर्श प्रत्यक्षीकरण (perception)—देखना ही है अलग-अलग प्रकार से। ऐसे ऊर्जा में केवल संवेदकता व ज्ञातृत्व ही नहीं द्रष्टृत्व भी सहज है। ज्ञानस्वरूपिणी द्रष्टृत्वशालिनी वह सत्ता ही जीवन है; सर्वव्यापी होनापन (isness of life, the Omnipresent, omnipotent, omnicient existence) है, या existencial essence है।

अपने जीवन में देखना-सुनना आदि प्रत्यक्षीकरण भी क्रिया है, जानना भी क्रिया है, पर आत्मसत्ता के स्तर में यह सब स्वभाव है। ज्ञानेश्वर महाराज ने आत्मसत्ता की यह स्वसंवेद्यता (ज्ञान का आत्मस्वभाव-रूप होना) अत्यन्त विशद रूप से प्रतिपादित की है। उनके सभी ग्रन्थों में (ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, उत्तरगीता, चांगदेवपासष्टि) इसका बहुधा निरूपण है। (बचपन से हमारा ज्ञानराय से प्रेमसम्बन्ध होने के कारण, यहाँ महाराष्ट्रभूमि में आते ही विशेष रूप से उनकी वाणी आँखों के सामने नाचने लगती है; सच कहूँ तो उनकी उपस्थिति प्रतीत होती है महाराष्ट्र-भूमि के कण-कण में !)

वह ज्ञानस्वरूपिणी द्रष्टृत्वधारिणी ऊर्जा इन्द्रियों के द्वार से विषयों की ओर दौड़ने लगती है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना अलग विषय है। यह व्यवस्था भी निसर्ग-दत्त या जीवनदत्त है, अपनी बनाई हुई नहीं। आँख खुली कि वह ऊर्जा दृष्टि द्वारा विषय के रूप को स्पर्श करती है। अपनी जगह रहते हुए ही दूर-दूर के विषय को स्पर्श करने की अद्भुत शक्ति

'दृष्टि' में है। वह स्पर्श होने पर स्पन्दन उठता है, शरीर में संवेदन उत्पन्न करता है। जिस ऊर्जा ने बाहर विषय को स्पर्श किया था वही ऊर्जा स्पन्दन-संवेदन का अर्थघटन करने लगती है। जब आँखों द्वारा बाहर गयी तब यही ऊर्जा ग्रहण-साधन (receptacle या receiving end) बनी थी, (वही वापस लौटी तो उस ग्रहण से उठे स्पन्दन-संवेदन का अर्थघटन, विभाजन, पृथक्करण, शब्दाङ्कन, मूल्याङ्कन करने लगी, निष्कर्ष तक निकाल लायी—तब हम उसे नाम देते हैं "बुद्धि", अतीव त्वरित वेग से यह सब होता है, उसे कहने में तो बहुत समय लगता है।) इस अर्थ, शब्द 'नाद' विचार निष्कर्ष आदि के पुनः संवेदन बनते हैं, स्पन्दन उठते हैं और वे शरीर के अणु-रेणु में अस्थि-मज्जा-स्नायु-रक्त-नाड़ियाँ सब में समा जाते हैं—इन्हें ही हम संस्कार कहते हैं।

यह सब कुछ संगृहीत, श्रेणीबद्ध धारण करके जो रखता है उसे कहा गया चित्त। वह संस्कारों का सुग्रथित-सुव्यस्थित संचय ही है। चित्त कहीं शरीर के विशेष भाग में—वक्ष में या और कहीं—स्थित नहीं है। संस्कारों का संचय करने व धारण किये रहने वाली जो शक्ति (Faculty) शरीर के भीतर है वह मानो बाहरी समूचे शरीर के भीतर नखशिखान्त फैली हुई स्पन्दनात्मिका संस्कारात्मिका एक सूक्ष्म काया ही है।

देहाकार में स्थित ऊर्जा का इन्द्रियों द्वारा विषयों को स्पर्श करना, उनसे स्पन्दन-संवेदन उत्पन्न किया जाना, उनका अर्थघटन-शब्दाङ्कन होना, उनका पृथक्करण-विभाजन आदि होकर मूल्याङ्कन होना, फिर उनसे निष्कर्ष निकाला जाना, उन्हें त्याज्य या स्वीकार्य घोषित किया जाना, उन पर से नये संकल्प-विकल्प उठाना, उसके अनुसार कुछ किया जाना—इस सब उधेड़-बुन का संस्कार बनना और शरीर में समा जाना इतना सारा क्रिया-कलाप जिस सूक्ष्म काया द्वारा होता है उसे अन्तःकरण (मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार) नाम दिया गया है। "मन" शब्द में इन सबका समावेश हो जाता है। ये सब शब्द प्रयोग-पूत, अनुभव-प्रत्यय-प्रक्षालित हैं।

जिन लोगों ने षड्दर्शन रचे और सबके सामने निरूपित किये उन्होंने स्वयं अपनी आँखों से यह सब देखा है। "ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः"। सत्य देखा, उसे शब्दबद्ध किया, वह वस्तुतः सही है या नहीं इसकी परीक्षा के लिये अपनी देह की प्रयोगशाला में इन्द्रियों (करणों) व विचार-विकारों-भावनाओं की ऊर्जाओं (impulses) की मदद से उसे जो कर देखा। तब शब्दों में रखा।

हमने मन-बुद्धि-चित्त को देखा, अब देखें कि अहङ्कार क्या बला है ? इसमें कोई वास्तविकता है या नहीं ? इन्द्रियों से लेकर बुद्धि तक की जो प्रक्रियायें हैं—reception, interpretation, retension, reproduction ये सब चलती हैं क्योंकि सत्ता स्वभावतः ज्ञानरूपिणी है, द्रष्टृत्व-सम्पन्न है। पर यह सब घटित होते समय, जहाँ घटित होती हैं उस देह में एक ममत्वभाव उत्पन्न होता है। इस देह के माध्यम से बारम्बार ऊर्जा की संवेदनशीलता के कारण उक्त सब क्रियायें दोहरायी जाती हैं। इसलिये "मैं देह हूँ, देह जैसी मर्यादित है वैसी मैं भी मर्यादित हूँ।" ऐसी कल्पना चेतना में उत्पन्न होती है (ऐसे आत्मा का सङ्कोच ही अहङ्कार है।) वैश्विक सत्ता को ऊर्जा ने साढ़े तीन हाथ शरीर से ममत्व न बाँधा हो तो 'अहंभाव' या "अहङ्कार" उत्पन्न नहीं होता।

समाज में रहते हुए हमें भाषा-संकेत-हावभावों द्वारा परस्पर व्यवहार करना पड़ता है। इसलिये पदार्थों को और शरीर को नाम दिये जाते हैं। बारम्बार उन नामों से सम्बोधित होने के कारण (इन नामों-रूपों से उनको अन्तःस्थ अधिष्ठानरूपिणी सत्ता व ऊर्जा की तदात्मता दृढ़ होती जाने से) "वह नाम मैं हूँ", "यह रूप (देह) मैं हूँ"—ऐसे पुनरावर्तन से ममभाव उत्पन्न होता है। ज्ञातृत्व-द्रष्टृत्व (रूप से ऊर्जा की क्रीड़ा) चालू रहने से यह भ्रम या अध्यास उत्पन्न होता है कि इस देह में कोई चिर-स्थायी ज्ञाता है, द्रष्टा है; जिसकी क्रिया यह ज्ञान व दर्शन है और जिसके दृश्य-ज्ञेय ये पदार्थ-विषय हैं। यहाँ तक उस कल्पना को ले जाया गया। पुनरावर्तन के बल पर वह कल्पना तथ्य जैसी बन बैठी। और फिर तो व्यक्तिगत "ईश्वर" (साक्षी) की भी कल्पना की।

"ज्ञान की प्रक्रिया चलती है, तो भीतर कोई "ज्ञानी" इकाई है, और इस देह द्वारा ही वह क्रियाशील है अतः यह देह मैं हूँ तो ज्ञानी-द्रष्टा भी मैं ही हूँ"—यह मान लिया जाता है। ये सब संज्ञायें केवल व्यवहार चलाने के लिये दी गयी हैं इनकी निजी कोई सत्यता-वास्तविकता नहीं, इसका स्मरण नहीं रहता।

'आत्मविस्मरणं विपदा'। इसीलिये "इस देह के भीतर कोई व्यक्ति है जो इन्द्रियों द्वारा सब करता है, और बाकी सारी विश्वसृष्टि के पीछे भी कोई नियामक व्यक्ति है जिसके संकेत पर सब निसर्ग-शक्तियाँ अपनी-अपनी धुरी पर नियत क्रियाशील रहती हैं। वह देव (ईश्वर) सब देख रहा है, वह हमें सम्हाल रहा है, उसकी कृपा है हम पर, या वह नाराज (रुष्ट) हो गया है !"—ऐसी कल्पना दृढ़ हुई।

हमारे दैनिक जीवन में जो-जो व्यवहार की छटायें हैं, उन सबका मधुर आरोप हम विश्वात्मा–"व्यक्ति" पर भी करते हैं। उस आरोप के आधार से ही हम सर्वतोव्यापिनी अनन्त सत्ता के सगुण-साकार विग्रह (मूर्तियाँ) बनाते हैं, उनके मन्दिर बनाते हैं।

इसमें मनुष्य ने कुछ अनुचित या बुरा किया यह ध्वनि भी मेरे आशय में नहीं है, केवल मेरे चित्त में विश्वसत्ता व जीवन का जो अर्थघटन हुआ उसी को आपके सामने शब्दों में रख रही हूँ। जो परखा वह कहती हूँ। आप इसे ग्राह्य या त्याज्य न मानें। सुनें, प्रयोग करें, निरखें, परखें, जो समझ में आये उसे धारण करें। और जीते चलें। कोई बड़े-बड़े त्रिकाला-बाधित सिद्धान्त निर्माण करने के लिये अपना जीवन नहीं है। और सम्पूर्ण सत्य अपनी समझ में आयेगा, पकड़ा जायेगा, और सम्पूर्ण रूप से हम उसे अपनी इन्द्रियों द्वारा जी सकेंगे—ऐसा भी भ्रम न पालें!

हम (मनुष्य जाति) यात्रिक हैं; पूरा समझ में आये, न आये, मनुष्य जीवन एक ब्रह्मअभियान है स्वरूप-सत्ता की ओर। सत्यशोधन की यात्रा है यह। उसके लिये मार्ग विज्ञान का पकड़ें या तन्त्र-मन्त्र-योग-भक्ति ज्ञान के रास्तों से जायें। अथवा क्रोध-वैर-ईर्ष्या-हिंसा रक्तपात-विनाश के मार्ग से चलें!—किसी भी तरह सत्य का आविष्कार-साक्षात्कार पाये बिना मनुष्यजाति को चैन पड़ने वाली नहीं। जब-जब सत्य खोजकर उसे केवल व्यक्तिगत जीवन में नहीं, सामाजिक जीवन में मनुष्य जी सकेगा; द्रष्टृत्व द्वारा पाये सत्य को इन्द्रियों द्वारा व्यक्त करना हो पायेगा—तब कहीं मनुष्य को चैन पड़ेगी, उसके बिना नहीं!—ऐसा मुझे लगता है। क्योंकि उसके बिना मुझे चैन नहीं पड़ती तो मानव-समाज को चैन पड़ेगी—यह कैसे मानूं? हाँ, स्वयं को अपवाद रूप मानने का दर्प हो तो बात अलग है।

ये ज्ञान-दर्शन आदि की प्रक्रियायें तथ्य हैं, उनका आविष्कार प्रत्येक मनुष्य को अपने व चारों ओर के जीवन में होता है। पर इस प्रक्रिया के पीछे, इसे चलाने वाला कोई "एवंगुणविशिष्ट""मैं" नाम का "व्यक्ति" या अस्तित्व है,—यह केवल अत्यन्त सुविधाजनक कल्पना है। जैसे वैश्विक प्रक्रियाओं की घटक सत्ता को "विराट् व्यक्तित्व" देकर उसका स्मरण कराने वाले सगुण-साकार प्रतीक-विग्रह-मूर्तियाँ मनुष्य ने बना लीं, उसी प्रकार इस देहपिण्ड में चलने वाली चैतन्य-प्रक्रियाओं के चालक रूप में प्रतीक जैसा ही "अहंभाव" या अहङ्कार कल्पित हुआ जो देहतादात्म्य से

व्यवहार चलाता है। (पर उस काल्पनिकता को भूलकर) "मैं स्त्री हूँ, पुरुष हूँ, ब्राह्मण हूँ, शूद्र हूँ, हिन्दू हूँ, मुसलमान हूँ, भारतीय हूँ"........से लेकर "मैं मनुष्य हूँ"—यहाँ तक अस्मिता की यात्रा चलती है।

अतः, अहङ्कार एक युक्ति है (Trick नहीं) यानि मददरूप उपकारक प्रक्रिया है। इसको कोई पृथक् वास्तविकता नहीं।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः''—प्रथम योगसूत्र है। देहाकार हुए चित्त में उठने वाली अनेकों वृत्तियाँ हैं। इन सभी वृत्तियों का उठना निःशेष रूप से शान्त हो जाना ही योगावस्था है। जाग्रत्-स्वप्न-निद्रा (सुषुप्ति), अहंभाव—ये वृत्तियाँ ही हैं। "मैं देह हूँ"—वृत्ति है और "मैं ब्रह्म हूँ" यह भी वृत्ति ही है क्योंकि दोनों में "मैं हूँ" बना हुआ है। "ब्रह्म है" इस "है"-पन पर जोर नहीं, "ब्रह्म हूँ"—"मैं"-पन पर जोर है। नहीं तो "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" में बात पूरी हो चुकी थी, अलग "अहं ब्रह्मास्मि" कहने की जरूरत नहीं थी।

कृपया इसे "टीका" न मानें, नहीं तो कहेंगे कि ये उपनिषदों की भी टीका करने लगीं! किसी की भी "टीका" करने का मेरा आशय नहीं है। सत्य शोधन के लिये निकलें तो व्यक्तित्व की गठरी-पोटली सब एक तरफ सरका-हटा कर रख देनी होती है। मुझे कहना यही है कि—"अहंभाव" एक वृत्ति है। उसे निकालने के लिए लोग "ब्रह्मभाव" धारण करते हैं—यानी बड़े काँटे से छोटा काँटा निकालने जाते हैं।

यही परम्परा है अपनी। बड़ा प्राचीन चिरन्तन देश है भारत। हजारों-लाखों वर्ष का सांस्कृतिक इतिहास है अपना। उसके पुट पर पुट चढ़े हुए हैं अपनी इन्द्रियों पर तथा भीतर की संस्कारात्मिका-स्पन्दनात्मिका सूक्ष्म काया पर भी। बहुत "High Potency" है। इसीलिये, उन संस्कारों को अलग हटा कर मूल तथ्य-सत्य को देखने की हिम्मत नहीं होती। घबरा जाते हैं हम। गीता के ग्यारहवें अध्याय में "विश्वरूप-दर्शन से जैसे अर्जुन घबरा गया था, वैसे सत्य का अनावृत स्वरूप हमें सहन नहीं होता।

कहना यही है कि अहंभाव भी वृत्ति है, ब्रह्मभाव भी वृत्ति है। केवल सहजता यानी वृत्तिरहितता ही योग है। चित्त को वृत्ति का स्पर्श ही न हो, प्रवृत्ति नहीं, निवृत्ति नहीं, "देहोऽस्मि" नहीं "ब्रह्मास्मि" नहीं। "मैं बद्ध हूँ" ऐसी भावना नहीं, और "मैं मुक्त हूँ" ऐसी भी नहीं। सच कहें तो जीवन में न बन्धन है न मुक्ति। ये सब जीवन की यथार्थता पर आरोप

हैं। सत्ता को ऊर्जा वस्तुतः एक ही है, उसके रूप अनेक हैं। जगदादिकन्द सच्चिदानन्द वह मूल सत्ता और उसमें समायी हुई ऊर्जा एक ही है। आप किसी भी वृक्ष का बीज देखिये, वह एक नन्हा सा बीज ही बोये जाने पर कैसा विशाल वृक्ष बनता है? मजबूत तना-शाखायें, कोमल फुनगियाँ, कोंपलें, असंख्य फूल, फल, फिर प्रत्येक फल में पहले जैसे ही बीज--सारा विस्तार उस एक नन्हें बीज में से ही तो निकलता है? "पहले बीज अकेला, धरती में बोया गया, अनन्त हो निकला!" फिर प्रत्येक के गुणधर्म अलग-अलग हैं। छाल का एक उपयोग है, मूल का दूसरा, पत्तों का तीसरा, फूलों का चौथा.......। फल खाया जाता है, छिलका और गुठली नहीं खाये जाते। बिजली एक है पर पंखा-कूलर-फ्रिज चलें तो ठण्डक मिलती है, हीटर से गर्मी मिलती है; पम्प से पानी खींचा व चढ़ाया जाता है, T. V. से दृश्य दिखते हैं, कैसेट्प्लेयर आदि से ध्वनि रक्षित की जाती है, पुनः सुनी जाती है। बल्ब से प्रकाश मिलता है। ऊर्जा एक ही है। वैसे मन-बुद्धि आदि के काम अलग हैं पर ऊर्जा तो एक ही है।

मेरा जन्म विदर्भ में हुआ है। वहाँ अमरावती जिले में वरुड गाँव में छोटी सी झोपड़ी में एक वृद्धा माता जी रहती थीं, निरक्षर थीं, पर निरन्तर उनके मुँह से भजन स्फुरित होते रहते थे। मैं बारम्बार उनके पास जाया करती थी, बड़ा प्रेम था उन्हें मुझ पर। वे गाती थीं—

"एक ही ब्रह्म रे भाई, जगत् में एक ही ब्रह्म रे भाई!
एक ही मिट्टी एक ही गारा, उसी से झोपड़ी हवेली-बनाई!
एक ही रूई एक ही डोरा, उसी से साड़ी-शाल सजाई!"

ऐसे एक सत्ता और उसकी एक ही ऊर्जा है। उसे "शिव-शक्ति" भी कहा गया। सत्ता को "शिव" तत्त्व कहा, और सत्ता जब ऊर्जा रूप से क्रीड़ा करने लगी, विश्वाकार बन गयी तो उसे "शक्ति" कहा। रसिक पूर्वजों ने शिव को "पुरुष" और शक्ति को प्रकृति "स्त्री" ऐसे प्रतीकों में कहा, तदनुसार उनका गुण-वर्णन किया, इस रसिकता में बड़ा पुरुषार्थ झलकता है। उनके शब्दों को ज्यों का त्यों प्रमाण माना जाय—यह नहीं कहती, परन्तु सत्यशोधन करते हुए उनके द्वारा किये हुए प्रयोग और शब्दाङ्कन—ये पथ अवश्य बन सकते हैं। रास्ता कभी बन्धन नहीं बनता; न किसी का शत्रु होता है। पूर्वजों ने जो प्रयोग किये, अपनी अनुभवपूत

वाणी से जो शब्द दिये, उन शब्दों से पथ या सेतु बनायें! और अपने सत्यशोधन को ओर आगे बढ़ते चलें! सीखें सबसे। पर उस आधार पर हो जियें नहीं। हाँ उस रास्ते से जाकर आप सत्य पहचान पाये, तो वह सत्योपलब्धि उधार न रहा।

उस शक्ति के, ऊर्जा के जो अनेकों रूप अपने भोतर संचार कर रहे हैं, जिनसे अलग-अलग काम चल रहे हैं, उन्हें निरखें! निहारें! सुविधा के लिये उसे नाम दें। जैसे अध्ययन के लिये नाम रख लिये—"अचेतन, अवचेतन, चेतन"—ऐसे क्या चेतना में, मन में कोई विभाग हैं? पर समझने के लिये हमने कुछ खाके बना लिये, कि इस जन्म में (याना इस शरीर का जन्म होने से लेकर) जो जो कुछ वातावरण में से—सोखा जाता है, जो प्रकट रूप से हमें सिखाया-पढ़ाया, हममें संक्रान्त किया जाता है—जा अनुभव होते हैं—वह सब मिल कर चेतन मन बनता है। जो कुछ आनुवंशिक रूप से, जाति-धर्म-देश आदि से संक्रान्त हुआ है वह अवचेतन मन है, और जो उससे भी गहरा है—सम्पूर्ण मनुष्यजाति के ज्ञान व अनुभव में से जो संस्कार चला आया हो उसे हम अचेतन मन (the racial unconscious) कहते हैं।

इन शब्दों को लेकर हिसाब लगा कर कोई निष्कर्ष निकाले कि तोन चेतनायें मनुष्य में रहती हैं—तो भारी भूल होगी, अनर्थ होगा। चेतना तो एक ही है। किन्तु दैनिक जीवन में जागृति में कार्य-व्यवहार करते समय क्या-क्या संस्कार हममें आनुवंशिक क्रम से आये हुए उठते हैं—कहाँ हम अपनी जाति, धर्म वा जन्मभूमि के रीतिरिवाजों के अनुसार बर्ताव करते हैं; कहाँ स्वयं सीखा हुआ ज्ञान काम करता है और कब-क्यों इन सब से कुछ अलग ही हमारे चित्त में उठता है? इसका निरीक्षण करें-परखें-टटोलें तो चेतना के उक्त अनेक रूपों की युक्तता समझ में आयेगो, कि वह विभाजन व्यवहार के लिये किया हुआ है। व्यवहार में समझने के लिये "यह मन है, यह बुद्धि है, यह चित्त है, इसे अहंकार कहा जाता है"—ऐसा शाब्दिक विभाजन किया हुआ है। तालाब-पोखर-नदी या सागर के तट पर बच्चों का खेल देखें तो जीवन का एक बड़ा रहस्य समझ में आ जायेगा। १९५५ की बात है भूदान-पदयात्रा के समय मैं घूमती थी तब देखा पोखर के किनारे बैठे बच्चे लम्बे बाँस पानी में डाल कर कहते "यह मेरा पानी है, वह तुम्हारा पानी है, इस पानी में जो मछलियाँ हैं वह भी मेरी हैं।" घण्टे भर बाद अपना बाँस निकाल कर

बच्चे घर गये कि वहाँ पानी में या मछलियों में कोई विभाजन नहीं रहता। वैसे ही जीवन में अनेकों विभाजन व्यवहार के लिये किये गये हैं वे शाब्दिक ही हैं। उनमें कोई वास्तविकता नहीं। सत्ता, ऊर्जा एक ही है।

इस शक्ति के अनेक रूपों को– महालक्ष्मी-महासरस्वती-महाकाली आदि नाम दिये गये, इन्हें परम सत्ता की परम इच्छाशक्ति भी कहा गया है। शिव की शक्ति, माधव की राधा, श्री राम की सीता ऐसे नाम भी दिये गये। कैसा मधुर अध्यास किया है वहाँ 'काम' शब्द का उपयोग करके! "स एकाकी न रेमे। सोऽकामयत। एकोऽहं बहु स्याम्" --"उस परमसत्ता को अपनी एकता स्वयं देखना बन नहीं पा रहा था! एकता को देखने के लिये भी कुछ दूसरा चाहिये था!" कामना की, संकल्प किया कि "एक हो मैं 'बहुत' हो जाऊँ!" उस संकल्प शक्ति को 'जगन्माता' 'महामाया' 'जगदम्बिका' कहा गया। सुन्दर शब्द है! 'जगत्' यानी जो कुछ गतिशील है, उसके मातृस्थान में जो ऊर्जा है वह जगदम्बा है! कोई उसे पिता रूप में देखते हैं--"I and my Father are one in Heaven" कोई दोनों रूपों की एकता देखते हैं।

"वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥"

पर यह सब क्रीड़ा पानी पर उठते तरङ्गों जैसी है—सत्ता पर, मूल ऊर्जा पर असंख्य नाम-रूप-आकारों के तरङ्ग उठते हैं और उसी सत्ता में विलीन होते रहते हैं। यह जान कर फिर इस जगत् पसारे को देखते हुए जीने में बड़ा मजा आता है।

यहाँ की सज्जनता, दुर्जनता, वक्रता, कुटिलता, ऋजुता सब के साथ आनन्द से जिया जाता है। जैसे करेला खाते हैं, कड़वा स्वाद लेते हैं, तीखी मिर्च खाते हैं—आँखों में पानी आये-मुँह से "सी-सी" निकले, पर मिर्च का स्वाद लेते हैं, खट्टी इमली को भी नमक लगा कर खाते हैं, खट्टे-तीखे-कड़वे सब रस पहचानते हुए उन रसों से समृद्ध भोजन बनाते पाते हैं। वैसे ही जीवन के जिस रूप-रस से सम्बन्ध आये उसे पहचानते हुए, उसके आधीन न होकर, उसका शिकार न बनते हुए उन रसों का स्वाद लेते हुए जीवन जीना अध्यात्म है। समझते बूझते-पहचानते हुए रसों का स्वाद स्वयं साक्षी रहते हुए लेना--ऐसा (तैरने जैसा) जीना ही अध्यात्म है, और समझे-पहचाने बिना प्रमाद से (प्रवाह में बहते चलने जैसा) जीना ही संसार है। इतना ही तो अन्तर है! अन्यथा पूर्ण समाधिस्थ जीवन जीने वाले को भी--भोजन बनाना-पाना पड़ता है, शरीर पर ऋतु

के अनुरूप वस्त्र पहनने पड़ते हैं, रहने के लिये घर भी चाहिये ही। शरीर है तब तक सभी जरूरतें—अन्न-वस्त्र-आच्छादन की रहती ही हैं—योगी हो या भोगी हो। परिवार न बसाया हो—पत्नी-सन्तान आदि न हों तो संस्था-आश्रम-मठ आदि खड़े होते हैं। तन-मन के अनुकूल परिसर बनाते हैं। घरौंदे बनते जाते हैं।

सत्य क्या है—पहचानें, प्रतीक क्या हैं और क्यों बने हैं—यह पहचानें। प्रतीकों का विनियोग करते समय सत्य का अनुबन्ध-अनुसन्धान न छूटने पाये, पहचान बनी रहे।—इसके सिवा अध्यात्म कोई अलग अनोखी वस्तु तो नहीं।

यहाँ जो ५-७ दिन हम साथ रहने वाले हैं तब अधिकांश मौन ही रहें यह जो निश्चित किया था वह इसीलिये कि यहाँ जो कुछ हम सुनें, प्रवचनों में, प्रश्नोत्तरी द्वारा जो भी समझें—उसी पर चिन्तन चलता रह सके। नहीं तो चार लोग इकट्ठे हुए नहीं कि एक दूसरे के घर-बाहर की तरह-तरह की बातें चलती ही रहती हैं—अनर्गल ! अनावश्यक ! मौन-नियम रूप से ऐसा नैतिक अङ्कुश स्वयं पर न रखें तो मनुष्य दिन भर अकारण बोलने में इतनी शक्ति खर्च करता है कि वास्तविक कार्य के लिये शक्ति बच नहीं पाती।

शक्तिसंचय भारी हेतु है मौन-नियम में। जो कुछ सुना जाय उसका पचन हो सके इसके लिये शक्ति व समय चाहिये जो मौन द्वारा अनायास मिलता है। (The time needed for the percolation of what is understood in every layer of being) सुनते समय (प्रतिक्रिया रूप में भी) बहुत सी भावनायें उछलती हैं (अच्छा लगा, अनुचित लगा, गलत लगा या पहले सुने-पढ़े विचारों से इन नये विचारों की तुलना हुई) उन प्रतिक्रियाओं का वमन किये बिना बहुधा चैन नहीं पड़ती लोगों को। उसमें समय गँवाया जाता है; तो जिस हेतु के लिये यहाँ आना हुआ हो वह एक ओर धरा रह जाता है।

इसीलिये ऐसा प्रयोग किया गया कि अनावश्यक वाणी-व्यय हो ही नहीं; श्रवण हो, उस पर भीतर ही भीतर गहराई से मनन हो, निसर्ग के साथ एकान्त-सेवन हो, अपने "निज" के साथ रहा जाय।

प्रश्नोत्तरी

दि० २८-१-८८ दोपहर

प्रश्न—वाणी का और मौन का क्या सम्बन्ध है ? शब्द क्या मौन का शत्रु है ? शब्द का जन्म कैसे होता है ? उसकी कोई प्रक्रिया है क्या ? शब्दनिर्मिति पर प्रतिबन्ध कैसे लगाया जाय ?

उत्तर—शिविर के पहले प्रवचन में यह कहा गया था कि जिस तरह बिन्दु के विस्तार मे रेखा बनती है (Line is an expansion of a point.) उसी प्रकार शून्य में से नाद उत्पन्न होता है उस नाद को शब्द रूप देने का प्रशिक्षण व अभ्यास मनुष्यजाति ने स्वयं को दिया हुआ है।

मौन का अर्थ है संकल्प-विकल्पमुक्त, विचार व भावनाओं से मुक्त भीतरी शून्यावकाश । इस शून्यावकाश में से ही नाद व शब्द का जन्म होता है। जो शून्य का अपत्य है वह शब्द उस का शत्रु कैसे हो सकता है ? वैखरी वाणी से-बोलने की क्रिया से निवृत्त होना मौन का बहिरङ्ग है, अन्तरङ्ग में चित्त में संकल्प-विकल्प उठें नहीं ऐसी अवस्था रहती है। अतः वाणी और मौन निगूढ़ सम्बन्ध में बँधे परस्पर स्वजन हैं। भारतीय दर्शन में वैखरी-मध्यमा-पश्यन्ती तथा परा-पर्यन्त वाणी का पृथक्करण किया गया है, इनकी मीमांसा की गयी, प्रत्येक वाणीस्तर के गुणधर्म भी कहे गये। यह सब पारिभाषिक साङ्केतिक शब्दावली (Technical terms, code language) है।

चित्त में यदि विचार-कल्पना, स्मृति, भावना, विकार आदि कोई कम्पना न उठे, चित्त निस्पन्द रहे तो शब्द का जन्म नहीं होता। विचार उठता है तो शब्दों को ले कर, भावना भी शब्दों को लेकर ही उठती है। शब्द कहाँ से व कैसे जन्म लेता है ? यह बड़ा पारिभाषिक प्रश्न है। मेरी दृष्टि जहां तक पहुँचती है उसके अनुसार उदर एवं उत्तमाङ्ग (मस्तक) इन दो तुम्बों वाली यह (काया) गात्रवीणा है। दारुवीणा में दोनों तुम्बों से जुड़े हुए जैसे तार होते है, वैसे इस गात्रवीणा में भी दोनों तुम्बों को जोड़ने वाली नाड़ियाँ हैं। उदर-तुम्बों में नाद का जन्म होता है। श्वासोच्छ्वास की गति, और उस के द्वारा प्राण-उदान अपान व्यान-समान नामक पञ्चप्राणों में जो गति होती है—जो स्पन्दन घटित होते है,

उनका अपने शरीर में चलने वाले रक्ताभिसरण से सम्बन्ध होता है। ये सभी परस्पर गुंथे हुए हैं। शरीर के भीतर का अग्नितत्त्व, श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया, पञ्चप्राणों का परस्पर सम्बन्ध—इन्हीं में से शब्द का जन्म होता है। इन में स्पन्दन होते हैं मस्तिक में उद्‌भूत होने वाले विचारों के कारण। जैसे किसी शान्त स्तब्ध जलाशय में कोई कंकड़ फेंके तो जहाँ वह कंकड़ गिरा उसी के चहुँ ओर लहरियों के वलय उठते हुए क्रमशः बढ़ते-बढ़ते जलाशय के तट तक जा पहुँचते हैं, वैसे ही मस्तिष्क में कोई विचार उत्पन्न हुआ कि उस के आघात उदर तक पहुँचते हैं, वहाँ वे नाद व शब्द रूप धारण करते है। नाद मे लेकर शब्द स्फोट तक कैसे पहुँच जाता है—वह विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत नहीं है, प्रश्न के हार्द के बारे में इतना ही कहना है कि यदि चित्त में "मैं हूँ, मुझे कुछ चाहिये या अमुक नहीं चाहिये"—यह भाव ही न बचा हो, जिस परिस्थिति में रहना पड़े—(भारतीय भाषा में—जहाँ जैसे भगवान रखें) उसी में सन्तोष हो तो उस चित्त में वाणी मौन हो जाती है। संकल्प के बिना स्पन्दन नहीं, स्पन्दन के बिना नाद नहीं, और नाद में उत्पन्न होने वाला शब्द भी नहीं रहता। इस तरह संकल्प ही शब्द का मूल जन्मदाता है।

शब्दनिर्मिति पर प्रतिबन्ध कैसे लगाया जाय? "अब मैं बोलूँगा ही नहीं"—ऐसा नियम लेना, होठ सी डालना, यह कोई प्रतिबन्ध नहीं। (दादा से सुना था कि श्री भणसाली जब सेवाग्राम रहने आये तो अपने होठ ही तांबे के तार से सी लिये थे कि मौन रहेंगे।) वह तो अपने पर अत्याचार है; उससे शब्दनिर्मिति पर प्रतिबन्ध नहीं आता। अपने पर किये हुए किसी भी अत्याचार का अध्यात्म से कोई सम्बन्ध नहीं। देह धारणा के लिये जो अन्न-वस्त्र-आच्छादन आदि आवश्यक है उसके लिये यथाशक्ति-यथामति प्रयत्न कर वह प्राप्त कर लिया जाय, किन्तु उस के अलावा इस संसार से मुझे कुछ नहीं चाहिये, यहाँ से लेने का कुछ नहीं है—मान-प्रतिष्ठा-शरीर व मन-बुद्धि को सुख देने वाले पदार्थों का संग्रह परिग्रह वित्तैषणा-कामैषणा-लोकैषणा—इत्यादि सभी एषणाओं का लोप हो जाता है, स्वच्छ, प्रशान्त, जलाशय जैसे (जिस के तट पर खड़े हों तो तल में क्या है यह स्पष्ट देखा जा सके ऐसा) निर्मल-प्राञ्जल निस्तरंग निष्कम्प चित्त रहे। देहधारणा के लिये आवश्यक उपार्जन करते हैं, उस के सिवा तुलना-स्पर्धा-ईर्ष्या-अपेक्षा आदि का कोई जंजाल चित्त में नहीं। (A beautiful and elegant simplification of the way of living) सादी, सुन्दर व शालीन जीवन-शैली बन जाती है। फिर प्रयोजन के

अनुसार शब्द उठेगा, वह व्यक्त होगा। उसे दबाना-मरोड़ना नहीं है। शब्द व मौन का सम्बन्ध चित्ताकाश से है। चित्ताकाश में संकल्प-विकल्प के बादल न उमड़ें ऐसी दृष्टि बन जाय तो शब्दनिर्मिति अनायास प्रतिबन्धित हो जायेगी। वहीं मौन की गुफा है।

बीज भून कर कर दी लाई। हमारा अब जन्म-मरण नहीं।
मिश्री से क्या बनता गन्ना? हमें गर्भवास क्या होना?
तुका कहे हम विट्ठल के दास। पिण्ड में किया ब्रह्माण्ड का ग्रास?
जन्म लेना पड़ता वासना के संग से।
वही तो हुई हरिरूप सर्वांग से!........

ऐसे वासना का बीज ही भूना गया तो उस के शब्दाङ्कुर-जन्माङ्कुर कैसे फूटेंगे? जिस वासना के संग से जन्म-मरण का चक्र चलता है वह वासना स्वयं हरिरूप हो गयी तो वह चक्र कैसे चलेगा? एक-एक वृत्ति चित्त में उठती है तो एक-एक जन्म की तैयारी हमारे भीतर हो जाती है। क्योंकि वह उठो हुई वृत्ति या संकल्प केवल शब्दरूप धारण करती हो ऐसा नहीं, वह शब्द, वासना चित्त में घुलती रहती है, वह इन्द्रियों में एक प्रकार की विवशता उत्पन्न करती है। फिर देह से वह काम पूरा करा ही लेती है। आज नहीं कल या परसों-कभी न कभी वह वृत्ति अपना वृत्त पूरा किये बिना आपको छोड़ती नहीं। इसलिये मौन का सम्बन्ध वासनामुक्त चित्त से है, शब्दनिर्मिति का प्रतिबन्ध भी वहीं घटित होता है।

तब भी प्रयोजन या आवश्यकता के अनुसार बोलना होता है, किन्तु उस बोलने में मौन ही निनादित होता है। उस वाणी एवं प्रयोजनानुसार कर्म में होने वाली गतियों में स्थिति का सत्त्व सौरभ समाया रहता है। उस हलचल से भी स्थिरता ही प्रसाधित-अलंकृत होती है। जीवन एक महाकाव्य है मित्रो! उसके विषय में बोलने लगें तो सहज शब्द ही काव्यमय हो जाते हैं।

"हे राम! तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि हो जाय सहज सम्भाव्य है॥"—'साकेत' (गुप्त)

पर अपनी स्थिति क्या है?—सभी वस्त्र सूत के ही बने हैं यह मालूम होने पर भी विविधता-अनेकता का मोह माया-आकर्षण इतना जबर्दस्त होता है कि उस वैविध्य की आसक्ति चित्त में उत्पन्न होती है। वैविध्य के लिये संकल्प-विकल्प उठते हैं। जो मूल आवश्यकता है—उसका निषेध नहीं, देह को पीड़ित नहीं करना है। देह की आवश्यकतायें बहुत सीमित होती हैं—वैविध्य के मोह से मन को उपजायी मांगे अनन्त होती हैं।

(The physical needs are limited but the psychological wants are unlimited) वासना का सम्बन्ध इन मानसिक मांगों से है। शरीर की आवश्यकता की पूर्ति सुन्दर सुसभ्य कलात्मक रीति से करना मनुष्य का धर्म है, पर मन को माँगों का, वासनाओं का, तो कहीं अन्त ही नहीं। जिस उपभोगवादी संस्कृति-सभ्यता में हम जी रहे हैं—वह तो मन की माँगों को अधिकाधिक उत्तेजित करने पर ही खड़ी है, ऐसे में मेरे जैसों का यह बोलना आप को आश्चर्यजनक हो नहीं, आघात पहुँचाने वाला भी हो सकता है। एक जीवनपरायण संस्कृति ही यह कह सकेगी कि जीवन की आवश्यकताओं को सुसभ्य-शालीन रीति से पूरा अवश्य करो किन्तु पदार्थपरायण न बनो, उपभोगपरायण न बनो। अध्यात्म का सम्बन्ध उपभोगपरायणता से हटकर जीवन-परायणता की ओर मुड़ने से है।

प्रश्न—दिव्यदर्शन का क्या अर्थ है? आप कहती हैं कि शून्यावस्था में, मौनावस्था में, उससे परे ध्यानावस्था में भी कोई अनुभव नहीं आते; और सन्तों के चरित्रों में तो 'दिव्यदर्शन' की बात सुनने-पढ़ने में आती है। "उसे मैंने देखा नयनों से" ऐसे शब्द-प्रयोग मिलते हैं। तो वह दर्शन क्या है?

उत्तर—अन्तर्मुख होने पर और वह अन्तर्मुखता कुछ स्थिर होने के बाद शरीर में विद्यमान नाद व प्रकाश दिखने लगते हैं—यह तो परसों हमने देखा। पर उन नाद व प्रकाश का सुख भोगने को वृत्ति नहीं होती, वे बार-बार दिखे-सुने यह इच्छा भी नहीं रहती, उन नाद व प्रकाश के विषय में चित्त में निस्पृहता आ जाने पर, ये पार्थिव नाद व प्रकाश शान्त हो जाते हैं। तब स्वयम्भू नाद व प्रकाश (प्रणव) जो विश्व के अणु-रेणु में व्याप्त है, मिट्टी से आकाश तक के सत्त्व में विद्यमान हैं—वह नाद व प्रकाश स्वयं प्रकट होता है। उसकी उपमा किसी भी पार्थिव नाद या प्रकाश से (सूर्य-चन्द्र-अग्नि आदि से) नहीं दी जा सकती, हमारे चर्म-चक्षुओं से (या इन की शक्ति के सूक्ष्मविस्तारक यन्त्रों से) वह नाद-प्रकाश सुना-देखा नहीं जा सकता।

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः?"

ऐसे प्रकाश दिखने को दिव्यदर्शन कहते होंगे। दक्षिणेश्वर में काली मन्दिर में हठ पकड़कर 'गदाधर' बैठे थे कि 'माँ मुझे दर्शन दो।' "माँ" को पुकारते-पुकारते उन्माद भी आ जाता था! माँ के दर्शन का

निदिध्यास लगा था। रात-दिन दूसरा कुछ भी सूझता नहीं था। काली माता के विग्रह की ओर देखते-देखते उन्हें यह भास भी होता था कि माँ देख रही है, हँस रही है, बात भी कर रही है। पर उतने से वे सन्तुष्ट नहीं थे। हठ था कि "तुम्हारा मूल स्वरूप मुझे दिखाओ !" और एक दिन वह हठ पराकाष्ठा पर पहुँचा कि "अब यदि तुम दर्शन नहीं दोगी तो खड्ग से अपनी गर्दन काट कर तुम्हारे चरणों में डाल दूँगा।" और मास्टर महाशय ने श्रीरामकृष्णचरितामृत में लिखा है कि वैसा हठ ठान कर जो खड्ग उठाया कि तुरन्त दिव्य प्रकाश काली माँ के विग्रह में से दिखा, हाथ का खड्ग नीचे गिर गया। निर्विकल्प समाधि का अनुभव आने से पहले विवेकानन्द को भी प्रकाश दिखा था।

ये श्रीराम के दर्शन हों, वासुदेव के दर्शन हो, 'विठोबा' के दर्शन हो, "अपनी आँखों से देखा"—यह जो भक्तों के कथन हैं वे चर्मचक्षु से कोई विशिष्ट रूप देखने की बात नहीं है। जिन चक्षुओं से "स्थावराणां हिमालयः" ऐसी भगवद्‌विभूति दिखाई देती है, उन्हें संवेदन के चक्षु कहें, भावचक्षु कहें या "दिव्यं ददामि ते चक्षुः" में कहा गया दिव्य-चक्षु कहें !

जो प्रकाश इन चर्मचक्षुओं को दिखाई नहीं देता, वह मौनावस्था में या पराकाष्ठा की शरणागत अवस्था में फिर किसे दिखता है ? वह तो सर्वाङ्ग से सर्वेन्द्रियों से भासता है। उसमें "देखा" यह शब्द प्रयोग किया गया होने पर भी आँखों की शक्ति की क्रिया रूपी देखना—ऐसा लौकिक प्रयोग नहीं है। नहीं तो "देखते-देखते देखना ही लुप्त हो गया, तब तुम्हारे दर्शन हुए"—"मूर्च्छित हुए शब्द, पङ्गु हो गया मन !" ऐसा शब्द-प्रयोग हो सकता क्या ?

वहाँ कोई अनुभूति लेने वाला अनुभोक्ता और अनुभव लेने की क्रिया शेष नहीं रहती। वह तो सर्वेन्द्रियों में, सर्वाङ्ग में घटित होने वाली एक घटना है। उस ज्ञान-स्वरूप सूर्य का स्पर्श भासित होता है। द्रष्टव्य की आभा लेकर आत्मा का ज्ञानस्वरूप प्रकाश उदित होता है। ज्ञान-प्रकाश तो आत्मा का स्वरूप है, स्वभाव है, उसमें अनुभव-अनुभोक्ता का अवकाश कहाँ ?—बात यह है कि शब्दों द्वारा जब अशब्द का, शब्दातीत निःशब्द का वर्णन करना होता है, अद्वैत की घटनाओं का द्वैतमय सृष्टि की घटनाओं-परिभाषाओं द्वारा निरूपण करना होता है तब कितना भी प्रयत्न करें, फिर भी श्रोता-वक्ता को समाधान नहीं हो सकता।

आप ही कहें कि स्वयं को स्वयं का अनुभव कैसे होगा ? "मैंने मुझको देखा। मेरा प्रतिबिम्ब देखा।" ऐसा कहा जाता है। अपना होनापन जाना जाता है, अपने अस्तित्व का बोध होता है--इतना ही "दिव्यदर्शन" का अर्थ मैं समझती हूँ। सभी अनुभूतियाँ मन के स्तर पर, 'मैं'-पन के भान पर आधारित होती हैं। उस जानने के परे न अनुभूति हैं न अनुभव लेने वाला कोई है।

प्रश्न--अध्यात्म-साधना में क्या भजन-पूजन-कोर्तन, मूर्त्तिपूजा आदि का कोई स्थान ही नहीं है ?

उत्तर—हम कहाँ खड़े हैं इस पर निर्भर हैं उनकी आवश्यकता। पहले अपने घरों में पद्धति थी कि एक कमरा या कोई छोटा स्थान "देवघर" रहता था। उसमें कुलदेवता की मूर्त्ति या छवि रखी जाती। सुबह-शाम वहाँ धूप-दीप किया जाता; घर में सभी बच्चों को कहा जाता "देवघर में जाओ ! भगवान् को नमस्कार करो।" "तुम अकेले नहीं हो। एक प्रणम्य शक्ति है जो हमेशा तुम्हारे साथ है"--यह माना सिखाया जाता उस नमस्कार-धूप-दीप आदि के द्वारा। बच्चा बड़ा होने पर पूछे— "यह नन्हीं सी मूर्ति या छबि ही क्या भगवान् है ?"--तब कहा जाता कि "नहीं, यह तो उनका प्रतीक है। भगवान् तो पूरे जगत् में फैले हुए हैं, सब कुछ के अन्दर-बाहर सब जगह भगवान् हैं। उन इतने विराट विशाल व्यापक को देख नहीं पाते हम इसीलिये उनके स्मरण-पूजन के लिये यह मन्दिर या देवघर अपने घर में बना रखते हैं।"

सबको तो कोई ग्रन्थ पढ़ना मिलता नहीं, चिन्तन करके सर्वव्यापक विभु-प्रभु का अनुसन्धान रख पाना सबके लिये सम्भव नहीं होता। इसलिये कोई एक सुन्दर-सी मूर्त्ति-छबि का आधार ले ले तो उससे अध्यात्म का क्या बिगड़ा ? यों तो "मूर्तिपूजा" यह शब्द-प्रयोग ही गलत है। मूर्त्ति तो बाजार में मिलती है, वहाँ से जब कोई एक खरीद कर हम घर में ले आते हैं, और आवाहन करके उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं तब वे 'प्रतिमा' 'विग्रह' "उपास्यदेव" बनते हैं। उसका बड़ा शास्त्र है। दिव्यता प्रकट हो सके ऐसी अव्यङ्ग देवमूर्ति बनाने का भी भारी शास्त्र व विज्ञान था अपने यहाँ। जीवनरसिक पूर्वजों ने अतीव सूक्ष्म गहराइयों में उतर कर वैज्ञानिक अध्ययन करके मूर्त्तिकला के शास्त्र बनाये थे। मन्दिर बाँधने में भी कोरा स्थापत्य-शिल्प नहीं, भावजागृति कराने का विज्ञान जुड़ा था उसके साथ। मनुष्याकृति में देवत्व का, दिव्यता का

आभास प्रकट करने के लिये विज्ञान था। [यह सब मैंने सुना समझा था शान्तिनिकेतन के सुविख्यात चित्र-कलाकार श्री नन्दलाल बसु से। वे हमारे मामा के मित्र थे। बचपन में उनके पास जाती, उन्हें चित्र बनाते देखती और ढेर सारे प्रश्न पूछती रहती कि "ये चित्र आप कैसे बनाते हैं। इन छबियों में जो सौन्दर्य आता है वह आपने कहाँ देखा ?......" वे भी छोटी बच्ची को चाहे जो उत्तर देकर टाल नहीं देते थे; समझाते कि देवमूर्त्ति या छबि बनाने के कैसे-कैसे शास्त्र हैं, वाचनालय में ले जाकर पुराने ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ दिखाते।]

मूर्त्ति या चित्र बनाने के पीछे बड़ी भारी दृष्टि थी। सान्त द्वारा अनन्त की मूर्त्ति बनाया जाना 'अरूप' 'सर्वरूप' 'सर्वात्मा' को 'रूप' में 'एकदेशी' विग्रह में व्यक्त कराना बड़ी तपश्चर्या है। तब उसमें व्यापार नहीं घुसा था; जीवन का व्यापारीकरण नहीं हुआ था।

वह मूर्ति आप घर में लाते हैं, अपने भावों का पुट चढ़ा कर, मन्त्रों द्वारा आवाहन करके उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं—तब वह आपका "प्राणसखा" "आराध्य देव" बनता है। अतः "विग्रह-पूजा" होती है, मूर्त्तिपूजा नहीं। शब्दों को बहुत संभाल कर बरतना होता है। शब्दों से अर्थ व्यक्त होता है, शब्दों से ही अनर्थ भी हो सकता है। "एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः"—हो तो जीवन जीने का आनन्द उसमें भरा होता है।

अतः "परम पवित्र सन्त चरित्र" आनन्द से पढ़ें, भजन गायें, कीर्तन करें—हृदय प्रसन्न होगा। सन्तों के शब्दों का सेतु बाँधकर अव्यक्त-अनन्त शब्दातीत परमसत्ता पर पलभर के लिये मन पहुँच जाता है। उसका आधार प्रिय लगता हो, आधार लेने की इच्छा होती हो तो जरूर लें। किसी से पूछें नहीं। किसी के कहने मात्र से न कुछ करें न त्याज्य कहने से छोड़ें। स्वयं करके देख लें।

विग्रह के सामने बैठने पर अपने भीतर क्या होता है यह देखें! वहाँ घन्टा भर बैठ कर धूप-दीप-माला-कीर्तन करने पर भी मन उद्विग्न ही रहता हो तो उस सबका कोई उपयोग नहीं। सुन्दर स्वच्छ जलाशय में, झरने में या नदी में उतरे हों, जी भर स्नान किया हो, फिर भी कहें कि शीतलता नहीं मिली, ताजगी नहीं आयी--तो यही समझना होगा कि आपने नदी में स्नान किया ही नहीं, मृगजल में ही रहे होंगे। अतः भजन-पूजन-कीर्तन आदि जो कुछ भी आप करें उस समय आप के भीतर क्या

होता है यह देखें। जो कुछ बोला जा रहा है उसके अर्थ का स्पर्श जीवन में आता है या नहीं ?—यदि गाते हों—"जगत् हो यदि वह्नि तो सन्त बनें पानो" इतने में बच्चा देवघर में आकर कुछ उत्पात करे या नौकर कुछ कहने लगे तो उस पर आगबबूला हो उठें—चिल्लायें कि "देखते नहीं मैं पूजा में बैठा हूँ? यहाँ क्यों आये!"—तो वह कैसी पूजा है? क्या भजन गाना है?""जिस पूजा-भजन या मौन ध्यान का जीवन में अनुबन्ध हो, जिससे जीवन को उन्नति होती हो, कुछ ऊर्ध्वारोहण घटित होता हो वह सभी कुछ उपयोगी है, करने योग्य है। "धूप-दीप करने से, गीतापाठ या भजन करने से पुण्य होगा, न करने से पाप होगा"—ऐसा पाप-पुण्य का बोझ ढोने के लिये यह परिश्रम करने की कोई जरूरत नहीं। इसके बिना भी, अनचाहे भी, बहुत सा पाप-पुण्य होता ही रहता है।

प्रश्न—धर्म का अध्यात्म से क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—अध्यात्म का सम्बन्ध सत्य समझने से है; जीवन का परम-चरम सत्य व सत्त्व समझने से है और जो जाना गया वह जीने से है। धर्म की शब्दशक्ति से--व्युत्पत्ति से व्याख्यायें तो हैं--"धारणाद् धर्म इत्याहुः", चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (जिससे सृष्टि की धारणा होती है, जो सबको शुभ व हितकार्य में प्रेरित करता है वह धर्म है) किन्तु संगठित-संस्थाबद्ध धर्मों का सम्बन्ध सामाजिक व्यवस्था से, सामुदायिक जीवन से है। अध्यात्म का संगठन नहीं हो सकता। सत्य की खोज की, उसे समझा और जीवन में अपना लिया—इतने में वहाँ इतिकर्तव्यता पूरी हो जाती है। किसी ने पूछा तो उस विषय में बोला-बताया जाता है। "सत्यं शिवं सुन्दरम्" कहें, "सत्-चित्-आनन्द" कहें, आत्मा की अविनाशिता व देहादि की नश्वरता-क्षणभङ्गुरता कहें। अनेक दृष्टिबिन्दुओं से देखने पर अनेकविध दर्शन व वर्णन होते हैं, या फिर "नेति-नेति" कहकर बोलना थम जाता है, पर वह जो सत्य समझ में आया उसे सामुदायिक रूप से समाज में जीने के लिये उसका कौन सा स्वरूप माना जाय? तो इतना ही कि झूठ न बोलें, चोरी न करें, सबको समान समझें। बच्चों में आरम्भ से ही शुभसंस्कार-सिञ्चन करें, इसके द्वारा आध्यात्मिक जीवन-मूल्यों का सहज शिक्षण देते चलें। उसके द्वारा देहगत अशुभ वृत्तियों का निवारण करते चलें। अशुभ का निवारण-निराकरण शुभसंस्कारसिञ्चन के सिवा नहीं हो सकता। जैसे हवा में प्रहार करने से कुछ नहीं होता,

वैसे अपने भीतर पड़ी हुई अशुभ वृत्तियों पर केवल दमन-पीड़न के प्रहार करने से काम नहीं बनता, इससे अशुभ निकल नहीं जाता। यह सभी कुछ धर्म द्वारा हो सकता है।

समाज में सबको मिलकर एकत्र रहना है, इसलिये कोई व्यवस्थापक भी होना चाहिये तो वह व्यवस्था करने वाली एक संस्था (Agency) खड़ी करते हैं, कुछ नीति-नियम निर्धारित करते हैं। उन (न्याय व राज्यसंस्था) का एक शासन होता है। इस तरह न्यायालय, नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, आरोग्यशास्त्र, कामविकार की व्याख्या के लिये कुटुम्ब-शास्त्र, गृहस्थादि आश्रम-शास्त्र--इत्यादि खड़े किये गये। इन्हीं से धर्म का विकास हुआ। उसमें फिर देश-काल की मर्यादाओं के अनुसार अलग-अलग दृष्टियों से अलग-अलग संगठित धर्म बने। सनातन धर्म ने एक दृष्टि से देखा, इस्लाम ने दूसरी दृष्टि से देखा तो ईसाई-दृष्टि तीसरी रही। 'धर्म' नाम से पहचाने जाते हुए इन अलग-अलग संगठनों को 'सम्प्रदाय' कहा जा सकता है। उनमें जो कुछ सर्वसाधारण, सबमें समान नीतियाँ हैं, उन्हें मानवधर्म कहा जा सकता है।

साम्प्रदायिक-भेद आचरणात्मक व्यवहार में, पर्वों-रीति-रस्मों में संगठन-व्यवस्थाओं में रह सकते हैं, धर्म का तात्त्विक स्वरूप प्रायः एक ही होता है किन्तु उस तत्त्व को जीने की पद्धतियाँ अलग-अलग हो ही सकती हैं। अध्यात्म में व्यवहार-भेद भी सम्भव नहीं। अतः धार्मिक व्यक्ति सर्वथा अपने नीति-नियमों का निष्ठापूर्वक पालन करनेवाला सदाचारी होने पर भी आध्यात्मिक हो ही, यह आवश्यक नहीं। उसके संगठित धर्म की आचारसंहिता के अनुरूप आचरण अवश्य वह करता होगा। सज्जन होगा, बुद्धिनिष्ठ होगा, भला आदमी होगा। किन्तु उसका जीवन अध्यात्मनिष्ठ होगा यह जरूरी नहीं। केवल सदाचारी धार्मिक व्यक्ति में व्यक्तिनिष्ठ सत्यशोधन का पुरुषार्थ, उस स्वायत्त सत्यान्वेषण के प्रयोग करने का साहस नहीं भी हो सकता। जो सत्य समझा गया उसके प्रति समर्पित होने की वीरता नहीं भी हो सकती।

१२ फरवरी १९८६ को, मृत्यु शय्या में स्थित श्री जे-कृष्णमूर्त्ति—ओहाई में, आर्यविहार में थे, उनके निकटवर्त्ती लोग उनके साथ बैठे थे। उनमें से किसी ने पूछा—"आपका अन्तिम सन्देश क्या है?" अत्यन्त करुणा भरी थी नयनों में—वे कृष्णमूर्त्ति बोले–"Sir, live the Truth you understand instantaneously ! otherwise you will get destroy-

ed by the same Truth". (जो सत्य आप की समझ में आया हो, आप को दिखा हो, आप की समझ में अवतरित हुआ हो, उस सत्य को तुरन्त ही जीने लगो ! उस सत्य के अनुसार तत्क्षण ही जीने लगो। नहीं तो वही सत्य आपका सर्वनाश कर देगा !)

अतः अध्यात्म है—समझ में आये सत्य के प्रति समर्पित होना, जीवन में वह सत्य जीना। केवल जान लेने में अध्यात्म नहीं है, जानने से पाण्डित्य आता है, भाषा में चमक आती है, बुद्धि का नूर बढ़ता है। किन्तु उस से आगे बढ़ कर अध्यात्म में सत्य को जीना होता है, किसी भी स्तर पर कोई भी सौदा-समझौता (Compromise) किये बिना। किसी भी कीमत पर उस सत्य से च्युत हुए बिना। तब वह आत्मतेज, आत्म-बल प्रकट होता है।

केवल धार्मिक व्यक्ति में वह साहस नहीं होता। वह कहेगा—"यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं न करणीयम् नाचरणीयम्" "चार आदमी क्या कहेंगे—लोगों पर क्या प्रभाव पड़ेगा—यह देखकर कदम उठाओ ! समाज में सब जैसा करते हों वैसा करो ! कोई नयी चाल न निकालो !"

ऐसे धर्म में चल रहे ढाँचों में अपने आप को बैठा लेना होता है। उस के लिये एक-दूसरे पर प्रेमाक्रमण करना पड़े या धाक दिखानी पड़े तो वह भी करते हैं। अरे ! अपनी सन्तान अपने कहने में न चलना चाहती हो—यानी चीला-चालू ढंग न अपनाना चाहती हो तो उन से सम्बन्ध तोड़ने पर भी उतारू हो जाते हैं। भले ही पूजाघर में बैठ कर उपनिषद्-पारायण करते हों और आदि शंकराचार्य के स्तोत्र गाते हों—"का ते कान्ता कस्ते पुत्रः.....।" पर वह सब केवल उपचार के लिये, कहने-गाने के लिये है। जीवन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। जीने की कसौटियाँ अलग, व्यवहार की सत्ता अलग—और पूजा-पाठ में बोला-कहा जाने वाला सिद्धान्त अलग !—यह तथाकथित धर्म में भले चल सकता हो, अध्यात्म में नहीं चल सकता।

अतः साम्प्रदायिक-संगठित धर्मों का सम्बन्ध सामाजिक-सामुदायिक जीवन-शासन (यानी व्यवस्था, व्यवहार के ढाँचे) से है। वे आचारसंहितायें उन मूल्यों की श्रेणियाँ, उनका आग्रह, फिर परस्पर विभिन्न आचार-संहिताओं-मूल्यांकनों आदि की तुलना-श्रेष्ठता की स्पर्धा, अपनी नीतिरीति की श्रेष्ठता का आग्रह रखते हुए दूसरों पर उन्हें लादने की इच्छा और

अभिक्रम—"कृण्वन्तु विश्वमार्यम्" कहने में भी सूक्ष्म रूप से वही ध्वनित है ! और प्रकट रूप में—एक हाथ में बाईबल या कुरानेशरीफ, दूसरे हाथ में बन्दूक तलवार लेकर निकलना धर्मों के नाम पर चलता है !

Where the truths are organised, standardised, and efforts are made to indoctrinate people in the name of these truths. ऐसे प्रयत्नों में संकीर्ण अस्मितायें खड़ी होती हैं जो सम्प्रदायनिष्ठ धर्मों में दिखाई देती है, वहाँ तुलना-स्पर्धा-द्वेष को समर्थन होता है ।

एक बड़ा उपकार है विज्ञान का और वैज्ञानिक अभिगम का, कि उसने बहुत से अन्धविश्वास व मान्यताओं को उड़ा दिया है, विज्ञान-तर्क बुद्धि को कसौटी पर खरे न उतरने वाले बहुत से भ्रम तोड़ दिये हैं। यहाँ तक तो बुद्धिनिष्ठा को विज्ञान बड़ा प्रिय लगा है। पर विज्ञान यहीं रुकने वाला नहीं है। वह आगे बढ़ रहा है। वह कहने लगा है कि आप जिसे बुद्धि कहते हैं, मन कहते हैं, उस की सब क्रियायें यान्त्रिक पुनरावर्तनात्मक हैं। विज्ञान ने यन्त्रमस्तिष्क बना कर सामने रख दिया है। मस्तिष्क द्वारा होने वाली कितनी ही क्रियायें (-बुद्धि व स्मृति आदि की-) वह यन्त्र (Computor, Robot) करने लगा है। मनुष्यजाति के सामने एक बड़ी भारी चुनौती खड़ी हो गई है। मनुष्य ने मन द्वारा अज्ञात से नाता जोड़ा था। उन नातों पर तो सारा भक्तिशास्त्र, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र खड़े हैं। बहुत-कुछ दर्शनशास्त्र भी ! और विज्ञान बता रहा है कि ये मन और बुद्धि यान्त्रिक हैं। जो मूल्य—नीतियाँ-सिद्धान्त इन से भरे हैं वे शतकानुशतकों के पुनरावर्तित विचारों के संस्कार-मात्र हैं। उन का ही Playback वर्तमान जीवन में हो रहा है।—मन-बुद्धि-चेतना के रहस्यों के द्वार खटखटा रहा है विज्ञान !

इसलिये जब विज्ञान दिखाने लगा है कि समस्त वैश्विक जीवन एक है—तब ये भिन्न-भिन्न संकीर्ण अस्मिताओं वाले संस्थागत संगठित धर्म क्या टिक सकेंगे ? अब तो सम्पूर्ण भूमण्डल के नागरिकत्व (Planetary citizenship) की बात चित्त में झाँकने लगी है। जीवन की एकता-अखण्डता-अविभाज्यता विज्ञानसिद्ध प्रमाणित होकर सामने आने लगी, केवल सिद्धान्त रूप से नहीं। स्पष्ट दिख रहा है कि संगठित धर्मों का युग अब समाप्त होने वाला है। अब तो धार्मिक सिद्धान्तवाद के अन्तिम प्रयत्न चल रहे हैं मध्यपूर्वी देशों में, भारत में भी जहाँ-तहाँ। अमेरिका में ईसाई चेतना (Christ consciousness) के आन्दोलन चलते हैं। दिया

बुझने से पहले तेज होकर भभकती लौ के समान विश्व भर के संगठित धर्मों के ये आखिरी जनून जोर मार रहे हैं। पर अब जो युग निकट आ खड़ा हुआ है वह है अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय का युग। एक समन्वित जीवनदर्शन और नवीन जीवनशैली के उदय का युग आ रहा है। क्षीण हो जानेवाली पुरातन संस्कृति (decaying culture) का ही एक अंश हैं ये संगठित धर्म। नये युग का उदय यानी अध्यात्म व विज्ञान का समञ्जस अन्वय अब भावी विश्वनागरिक का लक्ष्य होगा।

प्रश्न--महाराष्ट्र के सन्तों के जीवन में तो आप की बताई हुई मौन-ध्यान-साधना का कोई उल्लेख नहीं मिलता। तो क्या उन्होंने यह साधना की ही नहीं होगी ?

उत्तर—ऐसा है कि उनके साधनाकाल में न आप उपस्थित थे न मैं थी !....हां, त्र्यंबकेश्वर की गुफा में जब श्रीनिवृत्तिनाथ ११ या १८ दिन एकान्त में बैठे होंगे, तब उन्होंने क्या किया होगा ? ध्यानमार्ग की साधना ही तो हुई थी ! मौन ध्यानमार्ग का एक पड़ाव है; यह स्वयं साध्य नहीं, एक आयाम है। इस के परे जा कर ध्यानशील होना है, तब समाधिस्थ जीवन जीना आयेगा। समाधिस्थ मरण की तो कल्पना बहुतों ने की हैं, जैन-आगमों में उस का बहुत विशेष वर्णन भी है। किन्तु समाधि जीवन का एक आयाम है—(A dimension of the consciousness to be lived, to be menifested in human relationship) जिसे मानवीय सम्बन्धों में जीना है। वह कोई व्यक्तियों की व्यक्तिगत सिद्धि नहीं। मानवीय ऊर्ध्वारोहण व विकास की वह पराकाष्ठा है और प्रत्येक की पहुँच की वस्तु है। (The refinement of human consciousness) वह संस्कारमुक्ति के कारण परिमार्जित हुई मानवीय चेतना है। वही समाधिनामक आयाम में जीती है। मेरा कहना यही है कि १८ दिन जो निवृत्तिनाथ गुफा में रहे, और भण्डारा के पर्वत पर जा कर जो तुकाराम बैठते थे, हाथ में करताल-इकतारा लिये भजन गाते थे, पर क्या वे भजनों के शब्दों में ही रमे रहते होंगे ? शब्दों के अर्थ व भावों के प्रताप से क्या उनके चित्त की अवस्था निश्शब्द न हो जाती होगी ? कौन कह सकता हैं ?

आज, मौन-ध्यान के मार्ग की ओर लोग लक्ष्य दें, अवधान दें—यह विशेष रूप से कहने का एक कारण है आज की परिस्थिति। जैसे धर्म का व्यापार चला वैसे अध्यात्म को भी व्यापार का विषय बनाया जा रहा है। "आप अमुक क्रिया-प्रक्रिया कर लें तो सात दिन में ईश्वरदर्शन हो

जायेगा !........अमुक कुछ करने से १५ दिन में समाधि लगने लगेगी। २१ दिन में जीवन्मुक्ति सध जायेगी !"—ऐसी घोषणायें की जाती हैं। "आप शरणागत हो कर अपना धन-बुद्धि आदि हमें सौंप दो कि बस आप का सारा जिम्मा हम ले लेंगे, फिर मुक्ति के लिये आप को कुछ नहीं करना पड़ेगा !"........—इस तरह से अध्यात्मक्षेत्र के व्यापार द्वारा अतिशय चैतसिक शोषण, चैतसिक हिंसा व भ्रष्टाचार हो रहा है—और लोग दौड़े जा रहे हैं उस ओर ! जबर्दस्ती कुण्डलिनी जगा लो ! मन्त्र खरीद लो, साधना की युक्तियाँ खरीद लो ! अपना आन्तरिक स्वातन्त्र्य, स्वाधीनता, अपना विवेक-बुद्धि सब गिरवो रखने को तैयार हो जाते हैं।

इसीलिये जोर देकर कहना पड़ता है कि मित्रो ! इस सबको कोई जरूरत नहीं है। आप जहाँ है, वहाँ घर पर बैठिये। मन की सब क्रियायें व गतियाँ शान्त होने पर क्या होता है वह देखिये। जो कुछ घटित हो वह होने दीजिये। यह आप अपने व्यवहार में अनायास ही कर सकते हैं। लोग या तो शुष्कज्ञान में फँसते हैं या क्रियाजड़ बन जाते हैं। पर यह मौन-पथ स्वशिक्षण का मध्यममार्ग है, उसकी ओर जोर देने का प्रयत्न है।

सन्त एकनाथ महाराज हों, तुकाराम हों या नामदेव हों—उन्होंने अपने भीतर का शून्य नहीं देखा था या उसका रस-प्राशन नहीं किया था—यह कैसे कह सकते हैं ? नौ वर्ष को मुकाबाई सिद्धयोगी चांगदेव वटेश्वर को उपदेश दे सकीं। और १२-१५ वर्ष के ज्ञानदेव श्रीमद् भगवद्गीता पर भावार्थदीपिका तथा फिर स्वतन्त्र अमृतानुभव लिख सके—वे लोग ध्यानावस्था में जिये न होंगे यह कैसे कहा जा सकता है ?

यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड का अतिशय बोलबाला होने से जब उन यज्ञों का भी मूल आशय लुप्त हो रहा था तब "ब्रह्म सत्यं जगन् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः" 'अहं ब्रह्मास्मि—तत् त्वमसि" ऐसा उद्‌घोष करते हुए शंकराचार्य देश भर में घूमे। उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध तक कहा गया। वे चेतना को जागृत कर रहे थे। उन्हें देवो-देवताओं का निषेध नहीं करना था। उन्होंने ही कितने स्तोत्र लिखे हैं वे देखिये ! नम्रता यहाँ तक कि कहा—"सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् !" और गंगा-यमुना-नर्मदा के, विविध देवरूपों के स्तोत्र देखिये ! रूप-आकार-विशिष्टता का निषेध नहीं था उनके चित्त में। किन्तु अनेकता में अनु-

स्यूत एकता के दर्शन के लिये उस एकता को इन्द्रियजगत् व्यवहार तक जीने के लिये अपने सर्वाङ्ग से उस ऐक्यबोध तक जाना तो पड़ेगा न ! एक बार वह बोध जाग उठे, अनेकता में अलंकृत एकता के दर्शन हो जाँय, तो फिर उसे प्रतिपल जीवन में जिया जा सकेगा। अनेकता की माया में न फँसते हुए, चित्त को उसमें चिपकने न देते हुए उस अनेकता से खेलना हो पाता है। वह है ही खेलने के लिये। इसीलिये तो मधुराद्वैत-प्रवर्त्तक ज्ञानराय का दर्शन न मायावाद है न विवर्तवाद, न अजातवाद न मिथ्यावाद--विश्व को "प्रभु की काया" रूप से देखा गया। इस पदार्थ-सृष्टि को कैसा पावित्र्य प्रदान किया।

ऐसा निरूपण करने वाले सन्तों ने स्वरूपबोध की साधना की नहीं होगी यह नहीं कहा जा सकता। और यह मौन-ध्यान मार्ग की साधना की बात आज की परिस्थिति के अनुरूप (हो नहीं बल्कि अनिवार्य प्रतीत होने से विशेष बल-पूर्वक) पद्धति से कही जाती है, पर यह कोई नयी बात नहीं है। सच कहें तो—"व्यासोच्छिष्टं जगत्त्रयम्!" कोई भी नया सत्य लायेगा कहाँ से ? निरूपण की पद्धति अलग-अलग होगी संस्कारों के कारण, चित्त की रचना व व्यक्तित्व के कारण, जीवनसरणी के कारण। परिस्थिति के अनुसार विभिन्न कोणों से उसी सत्य पर विशेष प्रकाश डालना होता है (Highlight-emphasize करना होता है।) आज के अनर्थकारी वातावरण में–भोले-सरल लोगों को चाहे जिस मार्ग से खींचने वाले व्यापारी बढ़ रहे हैं, संस्कृति से दूर प्राकृत (पदार्थोपभोग) दशा की ओर खींचने वाले वातावरण में हम बैठे हैं। इसीलिये मौन पर इतना बल दिया जाता है।

●

● मन के मौन में चेतना का जो आयाम जाग्रत् हो जाता है उस का शील या स्वभाव है निस्तरंग निष्कम्प, निःस्पन्द अवस्था, जहाँ कोई व्यग्रता-व्यस्तता नहीं। ध्यान कोई मानसिक कर्म नहीं।

चतुर्थ प्रवचन

दि० २९-१-८८ सुबह

'गुरु' तत्त्व है ? व्यक्तिगत प्रकटीकरण है ? यदि वह व्यक्तिगत प्रकटीकरण है तो साधक के जीवन में ऐसे गुरुपद में प्रतिष्ठित व्यक्ति की भेंट कब होती है ? कैसे होती है ?—ऐसा एक प्रश्न पूछा गया है, उसी का विचार अन्य प्रश्नों के साथ संक्षेप से न हो सकने के कारण आज के प्रवचन का आधार वह प्रश्न रहेगा।

पिछले चार दिनों से क्रमशः हम देखते आये हैं कि हमें जो यह अनन्त गतियों के नर्तन से अलंकृत अनन्त रूप-रंगों से सजा हुआ दृश्य जगत् दिखाई देता है, उसके मूल में एक सत्ता है। सत्ता यानी होनापन ! उसे 'तत्त्व' भी कहा जा सकता है, जिसे भारतीय लोग "हरिः ॐ तत् सत्" कह कर 'तत्' रूप में पहचानते हैं। वह जो 'तत्त्व' का होना पन है वही अनन्त रूपात्मक विश्व होकर दिखाई दे रहा है। इस सम्पूर्ण विश्व के अणु-रेणु में उस तत्त्व और उसमें समायी हुई ऊर्जा के सिवा कुछ भी हाथ नहीं आता। तत्त्व से ऊर्जा को पृथक् नहीं किया जा सकता। ऊर्जा के बिना तत्त्व की सत्ता को जाना नहीं जा सकता।

यह जो अर्धनारीनटेश्वर जैसा तत्त्व का स्वरूप है उसने ही पिण्ड रूप धारण किया है। वह व्यक्त हुआ है। 'पहले आया एक बिन्दु; उसमें से विस्तारित हुई कलायें।" बिन्दु ही पदार्थ बना—'पद' का अर्थ स्पष्ट करने वाला। प्रत्येक पिण्ड, प्रत्येक पदार्थ एक प्रकार से स्वायत्त है, उनकी अपनी एक संरचना है। अपने शरीर में देखें—अनन्त रक्तकोष हैं। उन रक्तकोशों की अपनी प्रकृति है, गुणधर्म है। अपने जैसे अन्य कोष निर्माण करने की सृजनशक्ति उनमें है। ऐसे असंख्य कोषों से बना हुआ यह शरीर-पिण्ड है। यानि एक पिण्ड में ही कितने सारे ब्रह्माण्ड हैं। उसी प्रकार जिसे हम-आप ब्रह्माण्ड कहते हैं उसमें अनन्त आकार-प्रकार के असंख्य पिण्ड हैं—चींटी से हाथी तक, घास के तिनके से लेकर विशाल वटवृक्ष तक। ऐसे इन पिण्डों में तत्त्व की जो स्वसंवेद्यता है वह धीरे-धीरे प्रकट होती चली। संवेदनशीलता और गति इन अनन्त प्रकारों में से व्यक्त होते होते जब मनुष्य देह में आयी, तब तत्त्व में जो स्वसंवेद्यता है,

(The Capacity & potential of selfawareness) वह एक पराकाष्ठा पर पहुँचो। हम सबको उसका भान हो, उसका उपयोग करते हों—ऐसा नहीं, किन्तु वह है अवश्य। स्वसंवेद्यता इस देह में मुखरित है। इसीलिये मनुष्य जानता है कि मैं कौन हूँ, क्या कर रहा हूँ, मेरा हेतु क्या है? मुझपर और दूसरों पर इसके संभाव्य परिणाम क्या हैं? उन परिणामों की प्रतिक्रिया क्या होने वाली है? इसका गणित बैठा सकता है मनुष्य, यदि ऐसा करना चाहे।

इस स्वसंवेद्यताका उपयोग ("मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित्") बहुत कम लोग करते हैं। अधिकतर हम लोग वह जो दृश्य जगत् है, अनेकों प्रकार के गुणधर्मों-रूप-रंग-रसादि से सजे हुए जो असंख्य पदार्थ हैं—इन सबको अपना भोग्य मानते हैं कि ये हमारे द्वारा उपभोग किये जाने के लिये ही बने हैं। यानी अपने से इतर सारी सृष्टि से—पदार्थों प्राणियों मनुष्यों तक से—हम उपभोग का ही सम्बन्ध बाँध लेते हैं। फिर उपभोग से मिलने वाला सुख बारम्बार कैसे मिले? उसके लिये उन पदार्थों को, व्यक्तियों को अपने चाहे हुए रूप में कैसे पकड़ रखें—बाँधे रख सकें—इसी के पीछे मनुष्य लग जाता है। इसीलिये मैं क्या हूँ? यह जगत् क्या है?—यह जिज्ञासा, यह पृच्छा अन्तस्तल को झिझोड़ती हुई क्वचित् ही मनुष्य के चित्त में उठती है। घर में किसी स्वजन की मृत्यु हुई हो तो चार दिन श्मशान-वैराग्य आयेगा—"सब कुछ मिथ्या है—कुछ टिकने वाला नहीं!" कुछ दिन तक ऐसी उदासीनता छाती है। फिर धीरे-धीरे वह भूल जाता है और मनुष्य दृश्यों के दर्शन-भोग्यों के उपभोग, पदार्थों के संग्रह, सुख के नशे में धुत हो जाता है। तेलघानी में बँधे बैल की तरह उसी चक्र में गोल-गोल घूमते रहते हैं।

कुछ ही लोग इस चक्कर से अलग हटने को तत्पर होते हैं, इन दर्शन 'उपभोग-सुख' व्यसन, दुःख से भय आदि से बाहर निकलते है और पदार्थों का विश्लेषण करने लगते हैं। अपनी वृत्तियों का विश्लेषण, छान-बीन करने लगते हैं कि यह जो दिखता है वह क्या है? और जो देख रहा है वह क्या है? कौन है? इस समस्त व्यक्त के पीछे कुछ है या नहीं?—यह अन्वेषण करते-करते व्यक्त-दृश्य-असंख्य पदार्थों के ब्रह्माण्ड के पीछे जो तत्त्व है—उसे देखने पहचानने लगते हैं।

(They can discriminate the formless that has closed itself into innumerable forms.)

इन दृश्य पदार्थों की अनेकता से, इनके अनन्त रूप-रसादि से हमें इतनी माया (आसक्ति, मोह) हो जाती है और हमें पकड़ लेती है, तो इन सबके पीछे स्थित उस एक तत्त्व को जो देख पाते होंगे--उन्हें उस दर्शन की कैसी मस्ती चढ़ती होगी ?—कल्पना कीजिये ! सुन्दर संगीत सुनें, सुन्दर विचार सुनें, काव्य सुनें तो आनन्द का नशा चढ़ता है, सुस्वादु भोजन पायें सुरम्य निसर्ग दृश्य देखें, नशा छा जाता है; तो इन सबका मूलस्रोत जब दिखने लगता है तो स्वाभाविक ही आनन्द का दिव्य उन्माद छा जाता है, तब बहुधा देहभान बिसर जाता है। उस उन्माद में "बाल-उन्मत्त-पिशाचवत्" विहरण करते हुए अनेकों साधक दिखते हैं। खाने-पीने की सुध नहीं, वस्त्राच्छादन की होश नहीं, किसी भी आवश्यकता का भान नहीं !

यह देख कर लोगों को लगता है—यह कैसे ? इन्हें देह की भी सुध नहीं ! जरूर ये भगवान् को पा चुके हैं ! ये 'गुरु' होने योग्य हैं। इनमें गुरुतत्त्व का प्रकटीकरण हो गया है। किन्तु जिस तत्त्व ने विश्वाकार होते हुए भी अपना सन्तुलन नहीं खोया, संवाद नहीं छोड़ा, परस्पर विरोधी पञ्च महाभूतों को जिसने एक सुग्रथित माला की तरह परस्पर संवादी रूप में पिरोये रखा है, संगीत साधा हुआ है—उस तत्त्व का पूरा प्रकटीकरण जहाँ हो वहाँ असन्तुलन-उन्माद कैसे होगा ? वह उन्माद तो केवल प्रथम दर्शन मार्ग है।

पूर्ण आत्मतत्त्व के प्रकटीकरण का सहज उल्लास-आत्मोल्लास कभी सन्तुलन बिगाड़ नहीं सकता। आत्मोल्लास का शील है-लक्षण है सहज सन्तुलन। जैसे पानी में शीतलता, चन्द्रकिरणों में सुधा, सूर्यरश्मियों में ऊष्मा रहती है वैसे ही तत्त्व में आनन्दोल्लास एवं सहज संवाद-सन्तुलन समाये हुए हैं अतः उस सदाशिव जगद्गुरु तत्त्व के सर्वथा व्यक्तिगत प्रकटीकरण में भी सन्तुलन एवं उल्लास का लोप हो नहीं सकता।

कुछ लोगों का वह दिव्य उन्माद उन की बुद्धि तक पहुँचता है, बुद्धि अभिभूत हो जाती है तब "रहस्यवाद" की सहज स्फूर्त काव्यरचनायें (Mystical Poetry) उनके मुख से होने लगती हैं। उसका उनके जीवन से सम्बन्ध भले न हो। पहले कहे हुए उन्माद का तो वाणी से भी सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि वह दर्शन बुद्धि व हृदय-पर्यन्त उतरा नहीं होता, बस विश्वचेतना-मूलसत्ता के भास को घटना घटित हुई है और उसी से आये उन्माद व मस्ती के कारण कार्य वहीं कुण्ठित हो गया होता

है। "वैकुण्ठ (विगता कुण्ठा यस्मात्)—दशा नहीं आती। पर कुछ लोग इस उन्माद से थोड़ा आगे बढ़ते हैं। उनके द्वारा अद्भुत काव्य प्रकट होते हैं। उन काव्यों में जो तत्त्व निरूपित हो रहा हो वह उनके जीवन में इन्द्रियगत व्यवहारों में भी प्रकट हो यह नहीं होता। भले ही वह खलील जिब्रान् की कविता हो या अनेक सूफी सन्तों के काव्य हों।

इससे आगे बढ़ते हैं तो वह दिव्य-दर्शन की घटना व उन्माद केवल बुद्धि में उतर कर नहीं रह जाता बल्कि बुद्धि में पच जाता है। तब वे लोग उस दिव्य घटना के विषय में तत्त्व-निरूपक प्रतिपादनात्मक ग्रन्थ प्रबन्ध, लेख लिखने लगते हैं; शास्त्र व तत्त्वज्ञान के दर्शन सिद्धान्त रचते हैं। तब भी यह जरूरी नहीं कि उनकी वाणी में आयी हुई तत्त्व की पहचान उनके इन्द्रियगत व्यवहार व जीवन में रची-पची-रसित हुई हो। गुरु-तत्त्व का व्यक्तिगत प्रकटीकरण केवल बुद्धि-मन-वाणी के स्तर तक ही आकर रुक नहीं जाता। जीवन की समग्रता में—इन्द्रिय-मन-बुद्धि सम्पूर्ण जीवन सरणी, प्रत्येक हलन-चलन में वह तत्त्व (जीवन की मूल सत्ता की अखण्ड एकरस एकता) का भान प्रकट हो रहा हो—तब समझना चाहिये कि वहाँ "गुरुतत्त्व" का प्रकटीकरण है। जीवन के एक पक्ष में तत्त्व का प्रकाश हो और बाकी पक्षों में सन्तुलन न रहे तो समझना चाहिये कि तत्त्व के प्रकटीकरण में न्यूनता रही है।

"वाणी में श्रेष्ठ कवित्व; कवित्व में रसिकत्व।
रसिकता में परतत्त्वस्पर्श, जैसे अनोखा !!" (ज्ञानेश्वरी)

ऐसी परतत्त्व का स्पर्श पायी हुई वाणी कवित्व में, दर्शनशास्त्र-ग्रन्थों की निर्मिति में, प्रकट होने पर भी, जब तक वह स्पर्श इन्द्रियगत व्यवहार में नहीं उतरा तब तक बात अधूरी है—यही समझना।

लोग उस वाणी से प्रभावित हो जाते हैं, चकित-मुग्ध हो जाते हैं। क्योंकि अपनी बुद्धि-प्रतिभा से इतना चिन्तन-मनन नहीं किया होता, अध्ययन नहीं किया होता। और मनीषी शास्त्रकारों-तत्त्वव्याख्याताओं की वाणी में वह निरूपण बने-बनाये पोषक भोज्य पदार्थों, सिले-सिलाये तैयार आकर्षक पोशाकों की तरह मिलता है; मानो बोतलों व डिब्बों में बन्द त्वरित अनुभवयोग्य मुक्ति, समाधि, अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ तैयार मिलती हैं। यह उपहास नहीं, एक कटु सत्य है; आधुनिक जगत् की एक हृदयविदारक करुणता है।—वैसी चकित-प्रभावित करने वाली वाणी सुन-पढ़ कर ही लोग मान बैठते हैं कि यहाँ तो अवश्य ही गुरुतत्त्व सर्वथा व्यक्तिगत रूप

में प्रकट है। समग्र-संवादिता की ओर, सहज सन्तुलन की गरिमा की ओर देखने की हमें सूझती ही नहीं। रामकृष्णदेव कहते थे—"अरे ! मुझे एकान्त में देखो, लोकान्त में देखो, रात में देखो, दिन में देखो ! मैं जो बोलता हूँ, वह जी रहा हूँ या नहीं—यह ठोक-बजा कर देखो। और तब भी यह तुम्हारी समझ में पैठे, बुद्धि-हृदय को जंचे, और स्वयं प्रयोग कर के उसकी सत्यता परख लो–उतना ही ग्रहण करना, बाकी छोड़ देना।"

अतः केवल बुद्धि में, विचारों-तत्त्वज्ञान-शास्त्रों की कैद में पड़ा हुआ तत्त्व या गुरुपद सम्पूर्ण प्रकट नहीं है, कहीं न्यूनता है—यह समझ रखना। अविद्या का अन्धकार पूरी तरह अस्त हुआ या नहीं ? यह परखना। कुछ साधक अवश्य ऐसे होते हैं कि उनकी समझ में आयी हुई सत्यतत्त्व की पहचान उनको इन्द्रियों के प्रत्येक व्यवहार में उतरी होती है। यम-नियमादि अष्टाङ्ग योग की साधना द्वारा उन्होंने कायिक-वाचिक-मानसिक-बौद्धिक (the physical, verbal, psychological, intellectual levels) स्तरों तक अपनी शुद्धि की होती है। तब उस सर्वतः शुद्ध पात्र में परतत्त्व धारण होता है। वह धारण हुआ होने पर भी "मुझ में वह धारण हुआ है—मेरे घट में वह घटना घटित हुई है, मैं ब्रह्मज्ञ हूँ, ब्रह्मवादी हूँ" "मैं मुक्त हूँ, भक्त हूँ, भगवत्स्वरूप हूं" ऐसा भान बना रहता है। स्थूल स्तर में जैसे देहभाव बाँधता है वैसे सूक्ष्म स्तर पर यह ब्रह्माकार वृत्ति, ब्रह्मभाव व अपनी तत्त्वज्ञता का भान मनुष्य को बाँधता है। "पिण्डे मुक्तः, पदे मुक्तः, रूपे मुक्तः" होने पर भी जो "रूपातीते मुक्तः" हो वही वस्तुतः मुक्त है, इसमें संशय नहीं।

पिण्ड की वासना गई, देहभाव से मुक्ति हुई, फिर जो पद प्राप्त हुआ उसमें आसक्ति हो सकती है—उसमें से भी मुक्त हो गया, तब यह जो रूप है जिसमें वह मुक्ति घटित हुई हो उससे तदात्मता या मोह हो सकता है—वह भी न रहा, "मैं कोई विशिष्ट हूँ—सर्वथा मुक्त हूँ—ऐसी जिसे स्मृति ही नहीं रहती"—(क्रान्तिकारी महान् वीर श्री ज्ञानेश्वर ने क्या नहीं बताया हमें !)—इस प्रकार गुरुतत्त्व का स्वयं में पूर्ण प्रकटीकरण हुआ है—इसकी पहचान-भान रखने तक की 'अस्मिता' वहाँ नहीं रहती, गुरुतत्त्व के प्रकटीकरण को पहचानने के लिए भी दृष्टि इतनी विशद होनी चाहिये, नहीं तो जहाँ पर भावनाओं का आकर्षण हो, जहाँ मन-बुद्धि को मोहित, कुण्ठित करने वाला कुछ हो,—वहाँ गुरुपद का प्रकटीकरण है ऐसा हमें लगने लगता है। क्योंकि मूल में तो अपनी जिज्ञासा में ही कुछ

अशुद्धि होती है। हमें लगता है कि मुक्ति की अभीप्सा है, सत्य तत्त्व की जिज्ञासा है, ब्रह्मजिज्ञासा है, आत्मा को पहचानने की इच्छा है—किन्तु हो सकता है उसके पीछे संसार से ऊब या कोई उद्वेग हो कि—"ना भाई ! अब बहुत दौड़ चुके संसार के पीछे। बहुत झंझट झेल चुके ! अब यह सब नहीं चाहिये !"—ऐसी जिज्ञासा में निषेधात्मकता नकारात्मकता (negetivity) होती है। कुछ लोगों की प्रतिहत महत्त्वाकांक्षायें होती हैं। वे सोचते हैं "दुनिया में धन-प्रतिष्ठा-प्रसिद्धि नहीं मिली, धाक नहीं जम सकी तो हम इधर अध्यात्मक्षेत्र में खूब कमाई करके दिखा देंगे। अतीन्द्रिय शक्तियाँ-सिद्धियाँ कमायेंगे ! प्रतिष्ठा पैदा करेंगे !" "कुटुम्ब में पत्नी-बेटे-भाई आदि से पटरी नहीं बैठी तो अध्यात्मक्षेत्र में आकर बड़ी संस्था खड़ी करेंगे—चेलों का मेला लगायेंगे; बड़े-बड़ों को आश्रम में माथा झुकाने वाला बनायेंगे !" बहुधा अध्यात्मसाधना के नाम पर अपनी महत्त्वाकांक्षायें ही पोसी जाती हैं।

अपनी आत्मवञ्चना की शक्ति अगाध-अपार है। किसी के रूप पर, प्रतिभा पर, अभिव्यक्ति-शैली पर, आसक्त होकर हम उसके पीछे पड़ते हैं। यह कोई गुरु शिष्य-सम्बन्ध नहीं है। गुरुपद में प्रतिष्ठित व्यक्ति संसार में हैं ही नहीं—यह बात नहीं है, किन्तु "गुरु" से सम्बन्ध होने के लिये, गुरुपद में स्थित व्यक्ति को पहचानने के लिये पहले तो अपने भीतर शिष्यत्व आना चाहिये। शिष्य की आँखों को गुरु दिखाई देते हैं, हमारी-आपकी आँखों को गुरु नहीं दिखते भले ही अपने पास रहते हों, या पास से निकल कर जाते हों। उन्हें पहचानने के लिये अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शिष्यत्व घुला होना चाहिये, सत्यशोधन की वासना, जो सत्य दिखे उसके अनुसार जीने की तैयारी, निर्भयता, और उसे जीने के लिये जो कुछ आहुति देनी पड़े वह देने को—कीमत चुकाने की शूरता-वीरता अपनी समझ में आये सत्य के प्रति समर्पित-शरणागत होने की विनम्रता—यह सब हुए बिना शिष्यत्व कैसे आयेगा ?

हमने तो एक वाक्य स्थूल रूप से पकड़ रखा है—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया !"

जहाँ मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ प्रभावित हुई वहाँ जाकर कायिक-प्रणिपात किया, जो मन में आया प्रश्न पूछे, और आश्रम की-संस्था की-शरीर की सेवा करने लगे !—यह आशय नहीं है उस वाक्य का ! जहाँ सुना-समझा हुआ बोध सेवन करके जिया जाता है वही सेवा है भाई ! सन्तों की वाणी

ही उनके चरण हैं, उन चरणों की सेवा होनी चाहिये। वाणी के सेवन से सेवा होती है, केवल पांव का अँगूठा धोकर पीने से सेवा नहीं होती। इन परम्पराओं के पीछे जो गहन-गम्भीर संकेत थे वे सब हम भूल चुके हैं। और बाह्याचार के पीछे लगे हैं। इसीलिये वर्षानुवर्ष तन-मन-धन की शक्ति खर्च होती है और जीवन के सन्ध्याकाल में हाथ खाली रह जाते हैं।

इसलिये पहले शिष्यत्व होना चाहिये। जिज्ञासा हो, मुमुक्षा हो।

"दुर्लभं भारते जन्म, तत्रापि मनुष्यत्वं, मुमुक्षुत्वं, महापुरुषसंश्रयः।"

मुमुक्षुत्व हो तो महापुरुषसंश्रय काम आता है, अन्यथा नहीं। सद्-ग्रन्थों के अध्ययन से सत्सङ्ग एवं सत्श्रवण से जितना कुछ अपनी समझ में आवे जो कोई एक सत्य की किरण पकड़ पायें—उतना जीने लगें तो वह एक किरण समस्त सूर्य को स्वयं सामने ले आयेगी। जीने के कर्म से बढ़ कर शक्तिशाली और कुछ नहीं। (There is nothing as powerful as the act of living.)

अध्यात्म कोई वाणीविलास नहीं, कल्पना का शृङ्गार नहीं, क्रिया-प्रक्रियाओं का व्यायाम (Gymnastics) भी वह नहीं। कुछ व्यायाम स्थूल शरीर व व्यक्त जगत् के होते हैं तो कुछ मन-बुद्धि के व अव्यक्त जगत् के—अतीन्द्रिय जगत् के भी व्यायाम होते हैं।.....जीने के कर्म द्वारा गुरुदक्षिणा चुकाने की जिसकी तैयारी हो—वही शिष्य हो सकता है। जो मूल अविद्या-अस्मत्-युष्मत् प्रत्यय है—"सम्पूर्ण विश्व से पृथक् अपनी कोई निजी सत्ता की प्रतीति है, इस ब्रह्माण्ड से मुझे कुछ प्राप्त करना है—यही तो अविद्याख्याति है न ! यही अयथार्थ विपरीतज्ञान है ! जहाँ यथार्थता का विपर्यास है वही अविद्या है। जिस व्यक्ति में इस "अस्मत्"-प्रत्यय (I am-ness) का सम्पूर्ण लोप हो चुका हो—"मैं कुछ हूँ"—यह भाव हो जहाँ बचा नहीं--उसे आप दक्षिणा क्या देंगे ? वह है कहाँ ? वह चेतना, ज्ञान की अवस्था, देह में है, और इन्द्रियों द्वारा हिलती-चलती प्रकट होती है। किन्तु वहाँ "मैं अमुक व्यक्ति हूँ' ऐसा भान नहीं है। उसे क्या आप से कुछ चाहिये ? इसलिये जीने का कर्म ही जीवनविभु को-प्रभु की सबसे बड़ी पूजा है।

जब ऐसी तैयारी होती है जीवन जीने की, सीखने की तत्परता होती है कि--'-मैं सीखूंगा-समझूंगा जीने के लिये।" तब गुरुपद में स्थित चेतना जो केवल बुद्धिमत-मनोगत नहीं इन्द्रिय-स्तर तक उतर आयी हुई

दशेन्द्रियों में से झांकती-झलकती हुई प्रकट है—उस चेतना में प्रतिष्ठित व्यक्ति से मिलाप जीवन स्वयं करा देता है। यदि हम खोजने निकलते हैं तो अपने नाप का गुरु खोजते हैं। जो हमें सध सकें, सहन हो सकें, हमारी शक्ति या पहुँच के बाहर का कुछ जो कहें नहीं; हमें नाते बांधने दें—दैहिक सम्बन्धों की तरह कोई भाव-सम्बन्ध हमें बाँधने दें,—ऐसा सब हिसाब करके हम जाते हैं, या फिर प्रभाव में बह कर, अभिभूत होकर मोहवश जाते हैं। सावधानता से, तत्परता से, आत्मोत्सर्ग की तैयारी से निकला हुआ जो साधक हो उससे—गुरुपद में प्रतिष्ठित चेतना में अधिष्ठित जिनका जीवन है ऐसे व्यक्ति का मिलाप करा देना—यह जीवन का धर्म है (The law of love built in the very structure of the cosmos.) पृथ्वी में जैसे गुरुत्वाकर्षण है (low of gravity) उसके परिणाम दिखते हैं, वैसे ही जीवन का जो मूल सत्त्व है जिसे "ॐ तत् सत्" कहा गया—उस तत्त्व का सौरभ है प्रेम। प्रेम को सत्य से पृथक् नहीं किया जा सकता। उस प्रेम का एक अलिखित, अशब्दांकित कायदा है (Law of universe or multiverse) जो वह भेंट (गुरु-शिष्य-मिलन) करा देता है।

चित्त कहीं न कहीं अविद्याख्याति के जंजाल में अटका हुआ होता है, उसे "प्रत्ययज चित्त" कहते हैं, उस चित्त के चक्रव्यूह में फँसा होता है व्यक्ति, तब तक शिष्यभाव उदित नहीं होता। वस्तुतः शिष्यभाव में स्थित तथा गुरुपद में प्रतिष्ठित व्यक्तियों की भेंट जीवन करा ही देता है। कभी वह मिलनकार्य दृष्टिमात्र से ही पूरा हो जाता है—उसे दृष्टि-दीक्षा कहा जाता है। कभी कार्य वाणी से तो कभी स्पर्श से पूरा हो जाता है। एक से दूसरे में जो संक्रान्त होना है वह कभी सान्निध्य से-उपस्थितिमात्र से (by the existencial language) से हो जाता है। जिसकी जैसी कक्षा हो—उसी रीति से वह संक्रान्त हो जाता है। अन्धेरे को आप सूर्य के पास ले जायें तो वह अन्धेरा रहता नहीं। उसी प्रकार चेतना अविद्याख्याति में से विवेकख्याति में परिवर्तित हो जाती है। विपरीतज्ञान या अज्ञान में से यथार्थज्ञान में मनुष्य पहुँच जाता है।

यह घटना है मित्रो ! अज्ञाननिराकरण—जो गुरुपद में स्थित व्यक्ति के सान्निध्यमात्र में—दृष्टि-वाणी-स्पर्श या उपस्थितिमात्र से—घटित होता है—वह एक घटना है, वह अपना पुरुषार्थ नहीं। अपना पुरुषार्थ है तो इतना ही कि हमें उसके लिये छटपटाहट है, व्याकुलता है, बेचैनी है। यही

पुरुषार्थ निमित्त बनता है वह संक्रान्त-घटना घटित होने में। और वह घटना होते ही "गुरु-शिष्य"-सम्बन्ध पूरा हो जाता है। वस्तुतः तो वह सम्बन्ध है ही नहीं, उस मिलन का हेतु वहीं पूर्ण हो जाता है। मेरा कहने का आशय यही है कि मिलन शक्य है, सम्बन्ध सम्भव नहीं।

उपासना-आराधना के लिये विग्रह के समीप बैठना—और "यह मेरे उपास्यदेव हैं मेरे इष्टदेव हैं" कहना-मानना अलग वस्तु है। उपासना के लिये अध्यास अनिवार्य है। उपासना के लिये आप उन साढ़े तीन इंच, साढ़े तीन फ़ीट या तीस-चालीस फ़ीट के विग्रह पर सर्वव्यापकता-विभुता का आरोप-अध्यास करते हैं; सगुण पर निराकार-निर्गुण होने का अध्यास करते हैं। अध्यास का भी एक विज्ञान है। देह में विद्यमान जीवन पर जैसे आप नाम-रूपों का, विभिन्न नातों-रिश्तों और कर्तृत्व-भूमिकाओं का आरोप व्यवहार के लिये करते हैं, उसी प्रकार उपासना के लिये विग्रह पर अध्यास किये जाते हैं। किन्तु गुरुशिष्य-मिलन में वैसी उपासना-आराधना नहीं रहती। यहाँ तो सब संशय-छिन्न होना है, मोह का निरास होना है, ग्रन्थियाँ मिट जानी हैं, अज्ञान का निराकरण हो जाना है, अरे—ज्ञान का भी खण्डन हो जाने वाला है।

इसीलिये काम जहाँ अटका हो, वह अड़चन, वह प्रतिरोध, कुण्ठा दूर हो जावे, जहाँ कहीं रुकावट आयी हो वह निकल जावे—इतना ही गुरु-शिष्य-मिलन का प्रयोजन है। उस क्षण-आधेक्षण के दृष्टिमिलन में अनेक युग लाँघे जाते हैं, सब रुकावटें पार कर ली जाती हैं। इत्र के एक बिन्दु में अनन्त पुष्पों का सौरभ समाया होता है न! टोकरा भर फूलों से हार बनता है, पर इत्र कहीं लोटाभर नहीं लाया जाता।

"कोटि वर्ष का स्वप्न भी जाग्रत् होने के क्षण में समा जाता है।
वैसे अनादि काल से चला आया विभाव ज्ञान होते ही दूर होता है॥"
(—श्रीमद् राजचन्द्र)

कोटि युगों का स्वप्न, नहीं तो अनेकों घण्टों का स्वप्न भी जागने के क्षण में स्वयं ही लुप्त हो जाता है, स्वप्न लम्बा हो तो उसे मिटने में भी अधिक समय लगता हो—ऐसा नहीं होता। उसी प्रकार एक ही दृष्टि मिलन के क्षण में, अनन्त युगों से बाँध कर लाया हुआ अविद्या का प्रसार व अन्धकार है वह मिट जाता है और बोध होता है कि यह जो दृश्य जगत् है वह उपभोग्य नहीं और हम उपभोक्ता नहीं। इस दृश्य और द्रष्टा के पीछे तत्त्व एक ही है। इसलिये "मैं अमुक एवंगुणविशिष्ट कोई हूँ;

मुझे अमुक ही चाहिये, अमुक नहीं चाहिये·····" ये सारे आग्रह-आवेश-अभिनिवेश छूट जाते हैं—

"भिद्यन्ते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः"

पर अपना मन यह स्वीकार नहीं करता कि केवल क्षणभर का—एक दीपक की लौ से दूसरे दीपक की लौ के संयोग के क्षणभर का--ही प्रयोजन है, उसी पल के गुरु शिष्य मिलन में ही चेतना-संक्रान्ति घटित हो सकती है।····हमें (मन को) तो सम्बन्ध चाहिये। मानसिक सम्बन्ध, दैहिक सम्बन्ध, दरस-परस के चिरस्थायी अवसरों वाला सम्बन्ध चाहते हैं हम। और जहाँ गुरुतत्त्व का स्पर्श हुआ हो किन्तु उसका सत्त्व सम्पूर्ण जीवन में उतरा न हो ऐसे लोग उक्त प्रकार के सम्बन्धों की लालसा पूरी हो सके, 'अहं' की महत्त्वाकांक्षा को तुष्टि मिले—ऐसे व्यवहार करते हैं, वहाँ फिर संस्था संख्या और उनकी गरीबी-अमीरी की तुलना-स्पर्धा चलती है।

आप भारतभर में घूमिये, सब देखने को मिलेगा। तथाकथित अध्यात्म-स्थानों में भी कौतुक होता है धन और ख्याति का।·····"उनके आश्रम में ता वातानुकूलित कमरे हैं! साधना का हॉल भी वातानुकूलित है! विदेशी शिष्यों और आगन्तुकों की भरमार रहती है!"·····यानी वे महात्मा जरूर कोई "पहुँचे हुए होंगे!" "अमुक महात्मा इतने दर्शनीय हैं, इतने भव्य हैं, इतना अच्छा बोलते हैं·····"--पर इस सबका अध्यात्म से क्या लेना-देना! अच्छा दिखना, अच्छा बोलना, अच्छा खान-पान-निवासादि होना कोई अपराध नहीं, ऐश्वर्य है। किन्तु उसी में मोहित होकर लोग भूल जाते हैं। मूल प्रयोजन अलग छूट जाता है और एक अलग तरह का संसार प्रपञ्च खड़ा हो जाता है। इसी में मनुष्य पड़े हुए हैं। एक चक्कर में से निकल कर दूसरे चक्कर में फँस जाते हैं।

मित्रो! गुरु और शिष्य का "सम्बन्ध" हो ही नहीं सकता! (The enquiry & the person whose enquiry is matured into understanding—is a happening in life. It can never develop into ego-centered relationship as "My Master and My disciple!") यह तो 'वदतो व्याघात' (contradiction in terms) की बात है।

"यह जो "मिलन-घटना" है, यह क्या किसी ऋणानुबन्ध से होती है? इसमें कोई पुरुषार्थ का भाग होता है? कोई पुरुषार्थ अपेक्षित है इस घटना के लिये?"—पूछा गया है। प्रश्नकर्त्ता ने उदाहरण भी दिया है कि "गोन्दवलेकर महाराज श्री रामकृष्ण देव के पास जाने के लिये

चले थे, कलकत्ता तक पदयात्रा करके गये थे, पर उन्हें वापस लौटा दिया गया !—तो कौन किसका "गुरु" होगा यह भी ऋणानुबन्ध पर निर्भर है क्या ?"

मुझे अनुमानाधारित निष्कर्षों में जाने की इच्छा नहीं है। अनुमान और आप्तवाक्य भी प्रमाण अवश्य है, पर यहाँ उनकी संगति नहीं। मुझे ऐसा लगता है कि यदि कुछ पुरुषार्थ अपेक्षित है तो—अणुरेणु में, नस-नस में शिष्यत्व की भूमिका परिपक्व की जाय—यही करना होगा। जिससे झख मार कर (विवश होकर) विश्वात्मा को मेरे द्वार तक "श्रीगुरु" को लाना पड़े या मुझे उनके पास ले जायें। यह जिम्मेवारी मेरी नहीं।

"शिष्यत्व परिपक्व करना"—इसका क्या आशय है ? क्या करना होता है ?

करना वह होता है कि अपनी जो जिज्ञासा है, उसका अनुबन्ध हम सुबह से रात तक के कायिक-वाचिक-मानसिक सभी व्यवहारों से जोड़े रहें। वह अनुबन्ध कैसे जोड़े ? इसे संक्षेप में देख लें। मुझे जिज्ञासा है मुक्ति की। मुक्तता क्या है ? शान्ति क्या है ? आनन्द क्या है ? अभी मुझे मालूम नहीं। तो मैं सोचूंगा कि मुक्ति क्या है यह नहीं जानता पर बन्धन क्या है यह मालूम है या नहीं ? सुबह से रात तक देखूं कि मेरे जीवन में कहाँ-कहाँ बन्धन है ? परिस्थिति के निर्माण किये हुए बन्धन कितने हैं ? और मेरे मन के बनाये बन्धन कौन-कौन से हैं ? ये बन्धन मुझे प्रिय लगते हैं ? ये बन्धन छूट जायें तो मुझे अच्छा लगेगा या खोया-खोयापन, सूनापन, लगेगा ? अपनी भीतर की परिस्थिति क्या है ?—यह देखें।

मुक्ति की खोज करनी हो तो बन्धनों की ओर मुड़ें ! उन्हें टटोलें, जाँचें, परखें ! बन्धनों का स्वरूप, उनकी उत्पत्ति, उनकी कार्य-कारण-मीमांसा—आदि सब देखना होगा। बन्धनों का स्वरूप समझ में आने लगे तो उसी समय मुक्ति श्वास लेने लगेगी।

मैं देखने लगूंगा कि सुबह से उठकर रात तक मैं क्या-क्या करता हूँ। जो करता हूँ वह समझ-बूझ कर सावधानता से करता हूँ या आदत-वश करता चलता हूँ। आदतवश किया जाता हो तो वह यान्त्रिक क्रिया होगी। यान्त्रिक क्रिया में अनवधान आता है। अवधान ही अविद्या है, अन्धकार है। अनवधान बन्धन है। (The time spent in the repiti-

tion of habit-patterns, is waisted in machanistic movements in which there is no touch of life at all.)

जीवन से हमारा सम्बन्ध ही नहीं बन पाता क्योंकि हम आदतों में जकड़े हुए हैं। जितने कर्म आदतवश (वाणी-शरीर-मन-बुद्धि की आदतों के कारण) होते हैं उनमें जीवन का स्पर्श नहीं रहता। आदतवश ही ध्येय बनाते हैं, जीवन को उन खूँटों से कसकर बांधते हैं और उसी तरफ चलते रहते हैं। हम बन्धन निर्माण करते हैं। हमें लगता है कि ये बन्धन हमें जीने की दिशा दिखाते हैं। जीवन का प्रयोजन-कारण देते हैं। उन्हीं के अनुसार हम अपने जीवन के ढांचे गढ़ते हैं। (Ideologies, aims & objects are cerebral habits. A communist pattern of behaviour, a Catholic pattern of behaviour, an atheist pattern of behaviour !)

और उन्हीं ढर्रों पर चलने लगते हैं। इसमें अवधान रखने की जरूरत नहीं रहती। और जहां अवधान न हो वहां तत्परता नहीं रहती। मुक्ति में तत्परता रहती है, बन्धन में अनवधान रहता है। उसमें तत्परता का श्रम, तपश्चर्या नहीं होती। वहाँ रहती है गफ़लत की सुविधा (The luxury of indulgence)। यन्त्रमानव (Robot) की तरह अपनेआप यान्त्रिक रूप से क्रियायें चलती रहती हैं।

मुक्ति की खोज करनी हो तो पहले बन्धनों की मीमांसा करनी होगी। कहाँ बन्धन हैं, क्यों हैं ? अपने बन्धनों का स्वरूप पहचान लेने पर भी यदि वे प्रिय लगते हों तो दस समर्थ गुरु आने पर भी कोई हमें बन्धनों से मुक्त नहीं कर सकेगा। स्वयं पूर्णावतार वासुदेव भी आकर सामने खड़े हो जायें तब भी कुछ नहीं होगा ! उनके जीवनकाल में क्या हुआ ? उन के सान्निध्य से दुर्योधन-दुःशासन-शकुनि के चित्त में कोई फर्क पड़ा ? अर्जुन-उद्धव-विदुर के चित्त में अन्तर क्यों आया ? उनकी स्वयं की वृत्ति एवं अभीप्सा के ही कारण तो ! हम शान्त चित्त से अपने भीतर टटोल कर देखें कि वस्तुतः हम चाहते क्या हैं ? दुःख-निवारण का उपाय यही तो है कि दुःख के कारण खोज कर दूर करें। अशान्तता का इलाज भी यही है कि अशान्ति के कारण खोज कर एक-एक करके उन्हें हटा दिया जाय। अशान्ति के कारण न रहें तो शान्ति स्वयं सिद्ध है, वह कहीं बाहर से नहीं लानी पड़ती। पर हम अशान्ति के कारण बनाये रखना चाहें और शान्ति की खोज करें तो क्या बनेगा ? जात पाँत का मोह, अपने

वंश व सम्प्रदाय की अस्मिता, अपने क्षेत्र-भाषा-देश आदि का मोह व विशिष्ट पृथकता (A sense of belonging) बनाये रखना चाहते हैं। ये संकीर्ण अस्मितायें अविद्या का प्रतीक हैं। और व्यापक भी होना चाहते हैं। स्तोत्र-मन्त्र गायेंगे--

"नाल्पे सुखमस्ति। यद् वै भूमा तत् सुखम्।"

पर यदि भीतर अल्प की ही माँग हो। 'किसी के' होने की भावना (sense of belonging) में ही सुरक्षा-सुविधा प्रतीत होती हो तो ! कोई क्या करेगा ?

मित्रो ! हमें जो लगता है कि मुक्ति की अभीप्सा है—वह बहुधा सच्ची अभीप्सा नहीं होती। भ्रम होता है कि मुक्ति चाहिये। बन्धनों के घेरे में बैठे-बैठे ही मुक्ति का सुख पाना चाहते हैं। इन बन्धनों के रूप में अपनी जो कमाई है, उसी में एक बढ़ोत्तरी या अधिकता (an additional acquisition) के रूप में हम मोक्ष या आत्मसाक्षात्कार (enlightenment) चाहते हैं। पर वह मुक्ति आई तो एक ही झटके में अब तक हुई कमाई सब अस्मितायें--उड़ जायेंगी। आप कोई नहीं-कुछ नहीं बचेंगे। (The somebodyness somethingness will evaporate even before you become aware of it.)

इस मुक्ति-घटना में गुरुशिष्य-मिलन की घटना में कोई ऋणानुबन्ध का प्रश्न नहीं है। ऐसा नहीं कि किन्हीं चुनिन्दा (chosen few) विशिष्ट व्यक्तियों को ही "गुरु" मिलते हों। हमारी ही भीतरी तैयारी नहीं होती। जिज्ञासा का अनुबन्ध सम्बन्ध जीवन से जोड़ें। उसे केवल बौद्धिक वृत्ति न मानें। (A spiritual enquiry is commitment of the total life, not an intellectual effort, intellectual acquisition or intellectual commitment.) उसमें तो बड़ी सुविधा है।

ऐसी--सम्पूर्ण समर्पण की तैयारी यदि भीतर से अपनी न हो तो अपनी हालत उस तोते जैसी होगी जो सुन्दर सोने के पिंजरे में रखा हुआ था, खाने के लिये बढ़िया अनार के दानों से उसकी कटोर भरी जाती थी, सब पसन्द के ताजे फल भी दिये जाते थे। उसे सिखा रखा था बोलना--"स्वाधीनता ! स्वतन्त्रता ! मुक्ति ! आकाश !" पिंजरे में बैठा-बैठा वह ये शब्द रटता रहता था। एक बार एक सन्त अतिथि ने रात के समय उसका पिंजरा खोल दिया, कमरे की खिड़की भी खोल दी कि वह उड़ कर सीधे आकाश की ओर जा सके। लेकिन सुबह उठ कर देखा

तो वह पिंजरे में ही अपनी बैठने की नली को कस कर पकड़े बैठा था और चिल्ला रहा था—"स्वाधीनता ! मुक्ति !" ऐसे ही हमें भी ग्रन्थों द्वारा सिखाया-रटाया गया है--"देह नश्वर है, आत्मा अमर है, जगत् मिथ्या है, ब्रह्म सत्य है"--और हमें लगने लगा कि वह ज्ञान भी हमें चाहिये ! ब्रह्म का साक्षात्कार चाहिये, अमर आत्मा की पहचान चाहिये ! किन्तु केवल इच्छा होना जिज्ञासा नहीं। इच्छा होना ही पर्याप्त नहीं। उस तोते जैसी दयनीय दशा हम अपनी न कर लें। यदि केवल बौद्धिक कुतूहल या प्रश्न मात्र हो, उस जिज्ञासा के लिये सम्पूर्ण जीवन लगाने की तैयारी न हो तो विच्छिन्न व्यक्तित्व हो जायेगा। और न दुनिया सधेगी न अध्यात्म। जो करना है वह भी ठीक कर नहीं पायेंगे।

"पहले संसार सम्हालें, फिर नाम लें प्रभु का, करें परमात्मविवेक।" प्रपञ्च-संसार भी सम्हाला न जा सकेगा, और जिज्ञासा के पीछे जीवन होमने की तैयारी नहीं। ज्ञात के किनारे खड़े रहने की तैयारी सब की होती है, पर उस किनारे को छोड़ कर अज्ञात में छलांग लगाने का साहस नहीं हो पाता। ज्ञात छूटने की घड़ी आते ही वापस लौट पड़ते हैं। इस-लिये ज्ञाता-ज्ञेय सान्त-सगुण-साकार का, कर्ता-कर्म-भोक्ता उपभोग्य-सम्बन्धों का द्रष्टा-दृश्य-सम्बन्धों का और इनसे मिलने वाले सुख का मोह जब तक चित्त में है, तब तक शिष्यत्व अपने भीतर उगा नहीं—यह समझ लेना चाहिये।

गुरु-शिष्य-मिलन जीवन की परम पवित्र घटना है। वहाँ व्यवहार सम्भव नहीं। व्यावहारिक भाषा भी वहाँ चल नहीं सकती।

●

गुरुतत्त्व में पूर्ण श्रद्धा, रखी जिसने सर्वदा।
उसके हित के प्रति, सावधान गुरु परात्पर सदा।
गुरुपद है सदाशिव, गुरुतत्त्व है सदाशिव।
श्रद्धाभक्ति रहे सदाशिव में, अव्यक्त अनन्त परात्पर में ॥
निज काया में खोजो पर को, चिदाकाश में खोजो शिव को ॥
"शिवो भूत्वा यजेत् शिवम्। सद्गुरुर्भूत्वा भजेद् गुरुम् ॥

(—विमला)

प्रश्नोत्तरी

दि० २९/१/८८ दोपहर

प्रश्न—अद्वैत मार्ग में आद्य शङ्कराचार्य, स्वामी विवेकानन्द, रमण महर्षि—इनका ऐसा कहना है कि जो "अहमस्मि" का शुद्ध स्फुरण है, अथवा "ॐ तत् सत्" द्वारा निर्देशित जो परम सत्य है—उसी पर सम्पूर्ण अवधान रखा जाय। जे० कृष्णमूर्त्ति कहते हैं कि विचारों पर अवधान रखा जाय, अथवा Awareness of what is. जो यथार्थता-वास्तविकता है उस पर अवधान रखा जाय। कुछ बौद्ध लोगों का साधना का मार्ग है कि मन की हलचल का, मन की प्रत्येक गति का अवधान रखा जाय। तो इन तीनों मार्गों में भासने वाले विरोध को अलग हटा कर तीनों के समन्वय से साधना करना शक्य है क्या? (अंग्रेजी से अनुवाद)

उत्तर—तीनों में अवधान का महत्त्व तो है ही। अवधान तीनों का समानबिन्दु (common factor) है। "अहमस्मि" "मैं हूँ-मैं हूँ" का जो शुद्ध स्फुरण है, शरीर बालक से तरुण-युवा-वृद्ध होता जाता है, पर भीतर "मैं हूँ" इस स्फुरण की झंकार में कोई अन्तर नहीं पड़ता। उसकी कोमलता, नाजुकता जरठ नहीं होती। शरीर बीमार पड़े, घाव खा जाये, तो भी उस रोग-कष्ट की आँच "मैं हूँ" इस स्फुरण को नहीं लगती। स्फुरण में "मैं स्त्री हूँ-मैं पुरुष हूँ"—ऐसा देहात्मभाव जुड़ा नहीं रहता। जीवन का वह हुँकार शरीर की दशाओं से निरपेक्ष है। केवल होनेपन से उसका सम्बन्ध है। उसका जोर "मैं"—पने पर नहीं, "हूँ"—होनेपने पर ही जोर है।

इससे क्या पहचाना जायेगा? हम जिसे विश्लेषण-प्रक्रिया (Process of elimination) कहते हैं उसके अनुसार—यह जो देह दिख रहा है—वह मैं नहीं। ये जो इन्द्रियाँ दिख रही हैं ये भी मेरा सत्त्व नहीं। जो विचार-विकार जाने जाते हैं वे भी "मैं" नहीं। जहाँ तक "मेरा" शब्द का उपयोग हो सकता है—"मेरा घर, मेरा धन, मेरा कुटुम्ब, मेरा शरीर, मेरा मन, मेरे विचार....." इत्यादि—वहाँ तक 'सत्त्व' नहीं। उस सत्त्व का संरक्षण करने वाले आवरण हैं ये। इन्हें भ्रम मानना उचित नहीं। वे निरपेक्ष सत्य भले न हों, उनमें सापेक्ष यथार्थता तो है ही।

तथ्य हैं वे। किन्तु "यह मैं नहीं, वह मैं नहीं" कहते-कहते, यानी व्यक्ति जब केवल निरपेक्ष अपना मात्र स्फुरण रहे उसीको "अहमस्मि" का स्फुरण कहेंगे न !

शङ्कराचार्य एवं विवेकानन्द ने भी उसी पर अवधान रखने को कहा होगा।

The know not truth who dream such a vacant dream
as Father, Mother, Children, wife or friend.
The sexless self, whose father, whose mother is He ?
The self is all in all, none other exists and—
Thou are that Sannyasin bold say Om Tat. Sat. Om.
विवेकानन्द ने "Song of the Sannyasin" में यही तो कहा है—
Where seekest thou that freedom friend
This world not can give that to you,
Thine is the hand that holds the rope
that drags thee on,
cease lament let go thy gold,
Sannyasin bold ! say Om Tat Sat Om !

इसे व्यतिरेक भक्ति (negative-process of elimination) कहते हैं। सापेक्ष सत्य को एक तरफ हटाते-हटाते निरपेक्ष पर्यन्त जा पहुँचना; ऐसे हो शब्दों को हटाते-हटाते अन्त में जो स्फुरण शेष रहे—"मैं" अथवा "वह हैं"-"होनापन"—उसका अवधान रखें।

अवधान का अर्थ एकाग्रता नहीं है। एकाग्रता में प्रयत्न रहता है; अर्थात् जो सत्य हमें दिखता या प्रतीत होता है, उसके विषय में भीतर से एक प्रकार का प्रतिकार उठता है (Inner resistance to the truth perceived) तब प्रयत्न करना पड़ता है। दिखते हुए सत्य के प्रति विरोध या अरुचि न हो, उसका अस्वीकार न हो, तो कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। बच्चों को क्या कहना पड़ता है कि खेलने जाओ ! दौड़ते-भागते स्कूल से आये बस्ता-पाटी घर में धरी कि चल दिये खेलने। ठण्ड हो, गर्मी हो, बरसात हो ! माँ कहती है "थोड़ा कुछ खा तो लो !" तो बच्चे कहते हैं "अभी नहीं थोड़ा खेल लें फिर खायेंगे।" खेल के प्रति भीतर कहीं प्रतिरोध है ही नहीं। समग्रता को हवस है खेल की। जिसकी

हवस समग्रता को होती है उस कर्म में एकाग्रता के लिये प्रयत्न-श्रम-आयास नहीं करना पड़ता। वह अनावश्यक हो जाता है। समग्र अवधान में चेतना की वैसी ही आयास रहित अवस्था रहती है।

यदि बलपूर्वक एकाग्रता करें कि ब्रह्म ही सत्य है—"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" का जप या घोष करते रहें, मन माया की ओर दौड़ता हो, इन्द्रियाँ विषय चाहती हों, उन पर जबर्दस्ती करके धाक-डटप-धमकियाँ देकर या कुछ प्रलोभन देकर, लालच दिखा कर सत्य पर एकाग्रता करने लगे, उससे भीतर अपने आप पर जो अत्याचार होता है, उस अत्याचार के परिणामवश स्वभाव में एक प्रकार का आग्रह या जिद-आवेश खड़े होते हैं। जो कोई भी अपने ऊपर अत्याचार करता है उसके स्वभाव में आग्रह-आवेश-जिद्दीपना आये बिना नहीं रहता (That is the compensation exacted from you) क्योंकि भीतर छिन्न व्यक्तित्व हो जाता है, बिल्कुल मनो-व्याधि (शिज़ोफ्रेनिया) भले न हो, किन्तु स्वभाव सहज-सरल नहीं रहता। भीतर चाह हो तभी बाहर 'त्याग' करने की जरूरत पड़ती है। बुद्धि में पैठता नहीं, पर ग्रन्थों से पढ़ा-सुना होता है इसलिये मनुष्य त्याग का आग्रह पकड़ता है। उस एकाग्रता में से ही आग्रह और सम्प्रदायों का जन्म होता होगा।

वह विषय आज प्रस्तुत नहीं है। हमें आगे बढ़ना है। परन्तु शंकराचार्य, विवेकानन्द, रमण महर्षि आदि ने कहा है—उसे पहले समझ अवश्य लेना चाहिये। कोई भी आकर कुछ पूछे—रमणमहर्षि का एक ही उत्तर प्रश्न होता था—"तुम कौन हो ? प्रश्न कौन पूछ रहा है ? बन्धन में कौन है ? मुक्ति किसे चाहिये ? उसे खोजो ? 'मैं क्या हूँ' खोजो ?"

दूसरा उल्लेख किया गया गया है श्री जे० कृष्णमूर्त्ति का। वास्तव में तो उन्होंने साधना का कोई मार्ग बताया हो नहीं है। उनके विषय में बोलते समय बहुत संकोच होता है मुझे। क्योंकि उन्हें क्या अभिप्रेत था—यह कहने का दम कोई न भरे तो अच्छा! उनके कथनों की व्याख्या करने का प्रयत्न किसी को करना नहीं चाहिये। वे कह भी गये हैं—"Do not interpret me !" पर कोई प्रश्न पूछे तो यहाँ बैठने पर मेरा धर्म हो जाता है यह बताना कि मैं उनके कथन को कहाँ तक समझी हूँ, क्या समझी हूँ। उनका क्या आशय रहा होगा—यह मैं नहीं कहती। उनके कथन से मैं क्या समझी, वही कहती हूँ। (With no claim what-so ever to interpret or explain what he exactly meant. Just to

communicate what I have understood of him through his communication.)

उनके संवादों में से हमें यह समझ में आता है कि सुनने-देखने-निरीक्षण-अवलोकन का जो कर्म है (The act of listening, and the act of observation) जिसे वे "सम्पूर्ण कर्म.' (total action) कहते थे, वह कर्म तुलनामुक्त-स्पर्धामुक्त मूल्यांकनों से मुक्त, निर्णयों से मुक्त होना चाहिये। एक-एक विशेषण देखते चलें तो वह कितना कठिन है यह अपने ध्यान में आयेगा। प्रतिक्रियामुक्त देखना ही अवलोकन है (A reaction-free observation is perception) उनका कहना था कि सामान्यतया हम जो कानों से सुनते या आँखों से देखते हैं—वह पूरी बात हमें दिखती ही नहीं। क्योंकि हमें देखने आता ही नहीं (We do not know how to observe.) अवलोकन की स्थिति में हम रहते ही नहीं। हम किसी भी तरफ देखें तब उस पदार्थ के बारे में हमारे चित्त में जो संगृहीत ज्ञान है, वही उठ कर आँखों के सामने आ जाता है; उस पदार्थ के प्रति जो सामाजिक मान्यतायें हैं और हमारी खुद की जो वृत्ति-रुचि-अरुचि-मूल्यांकन आदि हैं वे चित्त पर छा जाती हैं, इसलिये अवलोकन हो नहीं पाता प्रत्यक्षीकरण (देखना) प्रदूषित हो जाता है (The very act of perception is polluted by the reactions of the past) भूतकाल की प्रतिक्रियायें उठ कर वर्तमान से हमारा सम्बन्ध होने ही नहीं देतीं। भूतकाल ही हमारी आँखों से झाँकता रहता है। और भूतकाल के चश्मे में जो दिखाई देता है वह यथार्थता नहीं है।

इसीलिये श्री कृष्णमूर्त्ति कहते थे कि आपको अवलोकन सीखना होगा। वह सीखने में मदद के लिये आप अपने भीतर उठते विचारों को देखते रहें। जो विचार बाहर की वस्तु नहीं, आपसे अलग कुछ नहीं हैं, उन विचारों को बदलने का या धमका कर दबा देने का प्रयत्न न करिये। केवल उनकी ओर देखते रहिये। इस रूप से देखना यदि सध गया तो द्रष्टा-दृश्य-सम्बन्ध (subject-object-relationship) के परे जो वास्तविकता है,--वह अनावृत होगी, वह दिखने लगेगी।

अब आप कहिये कि शंकराचार्य ने जो कहा और कृष्णजी जो कहते हैं—उसमें क्या फ़र्क है? तुलना-स्पर्धा-मूल्य-मूल्यांकन-निर्णय-प्रतिक्रिया सभी कुछ अलग हटा दिया--तो शंकराचार्य-विवेकानन्द-रमणमहर्षि के कथनों में जो व्यतिरेक की बात है—क्या वह व्यतिरेक ही यहाँ नहीं कहा

जा रहा ? पर शंकराचार्य कह गये तब की परिस्थिति-देश-काल-भाषा अलग थे और आज विज्ञान के युग में जब कृष्णमूर्त्तिजो जैसे मनीषी चिन्तक बोलें तो उनकी अभिव्यक्ति अलग होने ही वाली है। आपको दिखने वाले पदार्थों के पीछे की जो यथार्थता है—वह सत्ता ही होगी न ! उसे वस्तु का 'होनापन' Isness of Reality ही कहा जायेगा न ! "तत् सत्" शब्द न कह कर "What is" कहा, क्या फर्क पड़ा ?

हाँ, वर्तमान की ओर वर्तमान में रहते हुए देखें भूतकाल से अलग होकर देखो !—यह कहना सरल है, करके देखिये ! जिस मन से हम देखते हैं, जिस बुद्धि से अर्थघटन करते हैं—वे भूतकाल के गुलाम हैं। यह जो प्रत्ययज चित्त है—विवेकख्याति नहीं, जिसे अविवेकख्याति कहते हैं-- इसी चित्त से हम देखा करते हैं। कृष्णमूर्ति कहते हैं इस प्रत्ययज चित्त से मत देखिये। और शंकराचार्य व रमणमहर्षि कहते हैं कि आपको जो नाम-रूप-आकार आदि विविध अनेकता दिखती है, उसी पर रुक न जाइये ! उन्हें भेदते हुए उनके पार-परे जाइये। एक ओर दृश्य को अनावृत करने की भाषा है, दूसरी ओर द्रष्टा को अनावृत करने की भाषा है। एक को पहुँचना है शुद्ध स्फुरण पर। यहाँ वर्तमान बन कर वर्तमान की ओर देखना है। 'देखने वाले' से रहित निरपेक्ष, 'देखना'-भर है। (Observation without the observer, without the past.) वह प्रज्ञा (intelligence) द्वारा देखना हो तो हुआ ! "मैं" के रूप में भूतकाल नहीं देख रहा है। यह केवल प्रज्ञा द्वारा देखना कहा गया और उधर केवल "अहमस्मि" का शुद्ध स्फुरण ही दृश्य की ओर देखता है—यह कहा गया। इनमें अन्तर ता देश-काल-परिस्थिति-सापेक्ष भाषा का ही है। सत्य एक हो है किसी भी मार्ग से जाइये, केवल भाषा का अन्तर रहेगा। Temperamental idiosyncracies (प्रकृतिगत विशिष्टतायें अभिवृत्तियाँ) देश-काल-परिस्थिति की विभिन्नता तथा जिन संस्कारों में मन-बुद्धि संरचित हुई हों--घड़े गये हों—उनके अनुसार अभिव्यक्तियाँ अलग-अलग होंगी। पर मूल जो कहा जाता है--जो अभिप्रेत आशय होता है—उसमें कोई खास अन्तर नहीं पड़ता—ऐसा मेरा देखना है। इन दोनों में ही कोई प्रक्रिया नहीं है।

इनसे कुछ अलग जो तीसरी बात कही गयी—शायद प्रश्नकर्त्ता विपश्यना की ओर संकेत कर रहे हैं,—उस पद्धति में श्वास की हलन-चलन को देखने से शुरू करके मन की हल-चल (The minding of

mind) की ओर देखना होता है। उससे भी आगे बढ़ कर मन का मन-पना (The mindness of mind) देखना होता है। इसमें प्राथमिक स्तर पर में भी देखने की कुछ प्रक्रिया रहती होंगी। (मैंने उन प्रक्रियाओं का अभ्यास नहीं किया है।) सुनने-पढ़ने से तथा जो लोग उन पद्धति से साधना करते हैं उनसे संवाद करने से ऐसा दिखता है कि प्रारम्भ करते समय कुछ आधार देना होता है, कुछ प्रक्रियाओं में तो एकाग्रता करने को भी कहा जाता है। यहाँ प्रश्नकर्त्ता ने अवधान शब्द का प्रयोग किया है—(The awareness of the minding of mind according to Buddhist system) अतः हम अवधान शब्द ही लें।

अवधान के लिये भी अत्यन्त सूक्ष्म संवेदनशीलता अपेक्षित होती है। समझा, ध्यान में आया और अवधान रहा—इतनी संवेदनशीलता चाहिये। समझने और अवधान के बीच समय की दूरी न रहे (No time gap, no timelag between perception and understanding, then understanding and awareness.) दर्शन, आकलन और अवधान के बीच समय का व्यवधान न रहे—इसके लिये बहुत सूक्ष्म संवेदनशीलता होनी चाहिये। सम्यक् आहार-विहार के सिवा ऐसा सम्यक् दर्शन और इस सम्यक् दर्शन का अवधान रहना बहुत कठिन है।

वैसा इस समय अपने समाज में नहीं है, तो जिज्ञासु साधक कहाँ से आरम्भ करें ? इस पर यह पद्धति कहती है कि आप उठते-बैठते-चलते-सोते, कुछ भी करते न करते समय यह स्वयं को देखते रहना सीखिये। यह देखना बहुत कुछ दृष्टि की स्थिरता की बात है जो पहले दिन हमने यहाँ की थी; दृष्टि की स्थिरता से वृत्ति की स्थिरता, फिर उसमें से स्वतः निष्पन्न होने वाली सूक्ष्म संवेदनशीलता की बात हमने की ही थी। विपश्यना वाले कहते हैं पहले श्वास की ओर ध्यान रखिये। फिर मन की हलचल की ओर ध्यान रखिये। शरीर में जहाँ-जहाँ स्पन्दन उठते हैं उनकी ओर लक्ष्य रखिये। मूल मुद्दा है अवधान रखने का। अनेकाग्र-व्यग्र दृष्टि न रहे। दृष्टि स्थिर हो, उस स्थिरता में से अवधान जागृत हो।

सुबह हमने कहा था उसके अनुसार यदि किसी को ध्यान से पहले ये एकाग्रता आदि कदम उठाने पड़ते हों, कुछ आधार लेना पड़ता हो—श्वास की ओर देखें, आनापान-प्रक्रिया करें, फिर शरीर के स्पन्दनों को देखें, विपश्यना का अभ्यास करें—फिर अवधान तक पहुँचें—ऐसी किसी को

आवश्यकता हो तो उसका निषेध नहीं है। और किसी को लगे कि इन क्रियाओं की कोई जरूरत नहीं है, बात समझ ली, बस। तो वह देखने की ओर ही अवधान रख सकता है। उसे इन क्रिया-प्रक्रियाओं में उतरने की जरूरत नहीं।

प्रत्येक को सत्य से अपना सम्पर्क-बिन्दु, साधना का पथ या सोपान स्वयं खोज लेना होता है, कि हम कहाँ खड़े हैं? किन्हीं भी मार्गों का समन्वय करना, उनमें संवाद साधना, विरोधों का परिहार करना—इन सबका वृथा श्रम करना ही क्यों? तीनों का मूल आशय अवश्य समझ लें ताकि बुद्धि में संशय या अस्पष्टता व भ्रान्ति न रहे। वह समझने के बाद, हम स्वयं कहाँ खड़े हैं—हमारी जरूरत क्या है,—हमारी अनुकूलता क्या है? यह देख-परख कर कदम उठाने चाहियें, चलना प्रारम्भ करना चाहिये। स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना ही होगा, सूक्ष्म से मूल कारण की ओर जाना ही पड़ेगा।

Whether you have arrived at the state of awareness through the learning how to observe, whether you arrive at it through Advaita Vedanta, through the process of elimination, or you have taken the first step of binding the mind & its movement. Where you begin, is unimportant.

प्रश्न—मैं मन की अवस्था में जी रहा हूँ। मेरी प्रज्ञा जागृत नहीं हुई है, क्या इस अवस्था में घटित होने वाले मेरे कर्म ईश्वरार्पण किये जायें?

उत्तर—यदि इतनी पहचान हो गई हो कि हम मन के स्तर पर जी रहे हैं; इस मन की सब हलनचलन, पहले से अब तक मिले हुए संस्कारों की ही हलन-चलन है, यह यान्त्रिक है (जैसा कि शिविर के पहले दिन समझ में आया था—) व्यक्तिगत मन नाम की कोई वस्तु ही नहीं है, पूरे भूमण्डल का एक सर्वसामान्य वैश्विक मानव-मन (common global human mind) है, और उसी भूमिका पर हम हैं—इसका साक्षात्कार होना बहुत बड़ी घटना है। नहीं तो, आमतौर पर हम इस भ्रम में रहते हैं कि "हम मनकी भूमिका से ऊपर उठ चुके हैं। हमने इतना सत्सङ्ग किया है, इतने कथा-कीर्तन सुने हैं; इतना ज्ञान अर्जित किया है, मुझे माया-मोह-ममता कुछ नहीं है।"—ऐसा भ्रम मनुष्य को अपने प्रति हो

सकता है। यदि वह भ्रम न रहा हो, तो दूसरा कदम होगा कि असल में मन है क्या ? इसकी संरचना-स्वरूप क्या है ? और ये जो विचार-विकार मन में उठते हैं ये क्या हैं ? किससे बने हैं ? (What is the machanism & anatomy of mind, what is the chemistry of thoughts ?) यह देखने-समझने का प्रयत्न करना चाहिये।

प्रश्नकर्ता कहते हैं कि 'हम मन की भूमिका पर हैं। उसमें अनेक द्वन्द्व हैं, रुचि-अरुचि, प्रियता-अप्रियता हैं, अनेकों झंझट हैं, राग-द्वेष आदि सब हैं, उसी में हम जी रहे हैं।'—इतना भी समझ में आ जाय तो देखिये मनुष्य में कैसी नम्रता (The genuine humility) आ जायेगी ! कि हम इस यान्त्रिक संरचना के बीच फंसे हुए हैं।

"अब ऐसे में जो कर्म हो रहे हैं उन्हें ईश्वरार्पण करें क्या ?"

भाई ! ईश्वरार्पण करना यानी क्या करना होगा ? और किसलिये ईश्वरार्पण करना है ? "मेरे कर्म जैसे भी टेढ़े-मेढ़े या अपूर्ण हों, पर हे भगवान् आप मुझे मेरा वाञ्छित फल दे देना !"—क्या इस आशय से ईश्वरार्पण करना है ? वह "फलार्पण" होगा या ईश्वरार्पण ? सुबह हमने समझा था कि आत्मवञ्चना नहीं करनी चाहिये। आत्मवञ्चना-आत्मछलना के समान रोग नहीं है। और जो आत्मवञ्चना करता है वह व्यक्ति दूसरों की वञ्चना किये बिना नहीं रह सकता। क्योंकि उसे उठते-बैठते वञ्चना की आदत हो जाती है।

(Self deception & degenerating the deceiving to others verbally psychologically and also on the material level.)

इस आत्मवञ्चना में भी एक प्रकार की हिंसा ही होती है। खैर,

ईश्वरार्पण करना किसलिये ? "हम जैसे भी हैं, आपके हैं, हमारा कर्म कैसा भी हो उसे स्वीकार करो और अभीष्ट फल दो !"—ऐसे फल माँगना है क्या ? तब तो वह कर्म ईश्वर को नहीं, फल को ही अर्पण होगा। अपने यहाँ तो कहा है—"चित्तशुद्धयर्थं कर्माणि" कर्म किये जाते हैं चित्त की शुद्धि के लिये। शरीर-मन में अनेकों विचार-विकार-दोष भरे रहते हैं, उनके निराकरण के लिये, उनके क्षय के लिये कर्म किये जाते हैं कि सब कषाय निकल जायें, काया निर्मल हो जाय।

मान लीजिये कि प्रश्नकर्ता के मन में फल प्राप्ति की भावना नहीं है। "हे ईश्वर ! हमें मालूम है कि कर्म करने मात्र का ही हमारा अधि-

कार है, जैसा बन पड़ा कर्म किया है। इसे स्वीकार कीजिये और इसका जो भी फल हो वही होने दीजिये।" हमारी मर्यादा एवं भूमिका है—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते!" "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्....."

"एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।"

ईशावास्योपनिषद् से लेकर गीता तक यही सुना है हमने कि मनुष्य शरीर में, इन्द्रियों में अनेकों संस्कारराशि भरे रहने के कारण मनुष्य कर्म किये बिना रह नहीं सकता।

"न क्षणमपि तिष्ठत्यकर्मकृत्" "प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति"

इसलिये कर्म तो होने ही वाले हैं। इसलिये जो कर्म कर रहे हैं वह किसी पर अहसान नहीं, कोई बड़ा पुरुषार्थ भी नहीं। किसी का दुःख सहा नहीं गया, और आप उसकी मदद के लिये दौड़ गये। तो वह कोई बड़ा उपकार नहीं है। आप नदीतट पर खड़े हैं, कोई डूबता दिखा, आप को तैरना आता है; तुरन्त कूद पड़े और उस डूबते हुए को बचा लिया—वह इसीलिये कि आप से रहा नहीं गया।

इसलिये, हमारे द्वारा शरीर-मन से जो कर्म होते हैं, जो शरीर-मन के सहज विकार (सांख्यदर्शन-शास्त्र की परिभाषा में विकार यानी कार्य) हैं, उसमें कोई नैतिक सहचारी भाव न जोड़ें। जो स्वभाव नहीं वह विकार है। जैन-परिभाषा में निजद्रव्य और परद्रव्य कहते हैं। अपने यहाँ स्वभाव (प्रकृति) और विकार (विकृति)—ये शब्द प्रयोग किये जाते हैं। अतः हम जो कर्म करते हैं वे इन्द्रियों की संरचना में ही भरे हुए जो संस्कार-आवेग (impulses) हैं—उनकी मुक्ति (release) के लिये होते हैं। "क्षुधा-तृषा-मैथुनम्" इनको एक सम्यक् मुक्ति मार्ग मिले इसीलिये कर्म करते हैं। शरीर के सप्त धातुओं में, पूरे अन्तस्तलमें संस्कार भरे हुए हैं, वे आवेग उत्पन्न करते हैं, इसलिये कर्म होते हैं।

जब एक बार यह समझ में आ जाय कि कर्म किये बिना हम रह ही नहीं सकते, तो उन कर्मों के बारे में अभिमान या अहंकार कम होने लगता है। "मैं करता हूँ" यह दर्प क्षीण होता जाता है। अरे हम तो श्वासोच्छ्वास भी स्वयं (कर्त्ता रूप से) नहीं लेते हैं। श्वसन की प्रक्रिया तो जन्म से ही साथ आयी है, वह हमारी स्वायत्त क्रिया नहीं है। जन्म

से पहले से है कहना भी गलत नहीं। ऐसे ही 'अन्न हम पचाते हैं'—नहीं कहा जा सकता। भूख लगती है, इसमें हमारा कर्तृत्व नहीं। भूख लगने और अन्न-पचन होने के लायक शरीर की स्थिति रखना इसमें अवश्य हमारे प्रयत्न का सम्बन्ध है। पर खाये हुए अन्न के भीतर जाकर कैसे अलग-अलग रस बनते हैं, शरीर के सभी अवयवों को उनका अपेक्षित भरण-पोषण मिलता है—यह बड़ा रहस्य है। इसलिये स्वाभाविक रूप से कर्मसरिता इस देह रूपी पात्र में बहती ही रहने वाली है,—इसका कर्तृत्व मेरा नहीं, यह एक बार ध्यान में आ जाय, तो बहुत अच्छा हो।

'ईश्वरार्पण करना' बहुत बड़ी बहादुरी है, कि आप जो भी फल देना चाहें सो दें।" हमारा कोई आग्रह नहीं कि अमुक ही फल दीजिये। न शब्दों में वह आग्रह प्रकट होता है न मन में ही है। मेरी शक्ति-समझ और जानकारी के अनुसार जो कर सकता था वह मैंने किया। अब उसका फल जो भी आना हो आय!—ऐसा होने के लिये बहुत बड़ी निःस्पृहता चाहिये। यह नहीं कि कर्म करते समय चाहे जैसे कर डाला, वेगार टाल दिया। "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य" "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः" 'अभ्यर्चना' कैसा मधुर शब्द है? हमारा प्रत्येक कर्म प्रभु की प्रीतिभरी अर्चना हो!

अब, ईश्वर की सत्ता का भान तो है, पर वह कहीं दिखता नहीं। और है वह सर्वत्र। हमारे भीतर-बाहर-चहुँ ओर वह है। सो उसी ईश्वर को मेरे सब कर्म अर्पण हों। इनका जो भी फल सामने आयेगा उसे भोगने को मैं तैयार हूँ। सुख मिला तो उत्तम, दुःख मिला तो हर्ज नहीं। यश मिला तो भला, अपयश मिला तो भी हर्ज नहीं। मेरे कर्म चुनाव रहित (choiceless action) हैं। मेरी समझ में जो आता है वह करता हूँ, इसके सिवा और कुछ मैं कर ही नहीं सकता। मुझे जो उचित जान पड़ता है, वह किये बिना मुझसे रहा ही नहीं जाता।

अतः ईश्वरार्पण-भाव से कर्म करने का अर्थ है, उन कर्मों के बारे में निःस्पृहता होनी चाहिये। ज्ञानेश्वरमहाराज ने भावार्थदीपिका में बड़ी सुन्दर उपमा दी है कि पिता कन्या को जन्म देता है। बड़े लाड़-प्यार से पाल-पोस कर उसे बड़ी करता है। पर वह नहीं कहता कि—"मैंने इसे जन्म दिया, मैंने पाला-पोसा-बड़ी किया; इसलिये इसके प्रति अभिलाषा रखने का मेरा हक है!"—बड़े सन्मान से दूसरे कुल-गोत्र के युवक को बुला कर उसे जामाता बना कर कन्या सौंप देता है।……कन्या के प्रति अभिलाषा और कर्म के फल की अभिलाषा—इन दोनों को ज्ञानराय ने एक ही कोटि में रख दिया है।

अग्नि की ज्वाला जैसे ऊर्ध्वगामिनी होकर आकाश में चली जाती है, वैसे कर्म के प्रति हमारी वासनायें (कर्मों के फल को इच्छायें) ऊर्ध्वगामिनी होनी चाहियें। ईश्वरार्पण करने का यह अर्थ है।

"जो भी करें उसे सिद्ध करने वाला पांचवां तत्त्व तो 'दैव' ही है। हमें तो मालूम पड़ने वाला नहीं कि परिणाम क्या होगा? हमारे हाथ में तो है नहीं! इसलिये "हे भगवान्! यह कर्म तुम्हीं को अर्पण है"—ऐसे लाचारो से कांखते-कराहते कहने का कोई लाभ नहीं।

ऐसे लाचारी के भाव से ईश्वरार्पण नहीं होता जो! यह तो वीरों का काम है।

"हरि का पथ तो शूरों का है, कायर का नहीं काम यहाँ।
पहले सीस उतार धरो, तब फिर नाम प्रभु का लो॥"

इस प्रकार यदि हम अपनी—शक्ति-मति के अनुसार पूरी क्षमता व रुचि सहित कर्म करने लगें, और उसके फल के विषय में चित्त निस्पृह रहने लगे—ऐसी निस्पृहता आ जाय, तो मुझे लगता है कि चित्त का ऊर्ध्वीकरण (sublimation of the mind) होकर ही रहेगा।

प्रश्न—'अज्ञान से ज्ञान का निरसन करें फिर ज्ञान के भी परे जायें'—इसका अर्थ क्या हैं?

उत्तर—वस्तुतः इस प्रश्न का उत्तर हमारी कल-परसों की चर्चा में आ ही चुका है। मजा यह है कि जिसे हम अज्ञान कहते हैं, उसकी कोई भावरूप सत्ता है भी या नहीं? पहले यही सवाल है।

"अरे जो हुआ ही नहीं, उसका क्या हाल पूछा?"

अज्ञान की कोई सत्ता या अस्तित्व है—इसलिये उसका निराकरण करना है—यही हम सामान्य रूप से मानते हैं। पर वह कहाँ तक सही है? कितना संगत है? यही पहले परखना चाहिये।

पदार्थों के विषय में जानकारी का अभाव, भौतिक जगत् के बारे में जानकारी का अभाव—इसी को यदि अज्ञान कहते हों, तो वह सम्भव है। तब वे जानकारियाँ हासिल हो गयीं—यानी ज्ञान हुआ, मानते हों तो 'ज्ञान द्वारा अज्ञान का निरसन'—यह शब्द-प्रयोग वहाँ लागू पड़ेगा। "जानकारी नहीं थी, वह मिल गयी। भूगोल, इतिहास, वराहमिहिर का गणित शास्त्र, विज्ञान-तकनीक आदि के विषय में मैं अज्ञानी था। अब उनका ज्ञान हो गया।" ऐसे ही "तत्त्व के विषय में अज्ञान था। अब वह ज्ञान में परिणत हुआ।" यहाँ तक ठीक है।

पदार्थों के विषय में ज्ञान मन-बुद्धि द्वारा होता है, जो शरीर का ही सूक्ष्म भाग हैं। वहाँ तक यदि ज्ञान-अज्ञान शब्द का प्रयोग करना हो तो, वाच्यार्थ में, लौकिक अर्थ में वह किया जा सकता है। किन्तु यदि स्वरूप के विषय में, आत्मसत्ता, प्रभुसत्ता के विषय में शब्दप्रयोग करना हो तो वहाँ अज्ञान सम्भव नहीं, क्योंकि उसकी सत्ता हो नहीं है। जो हमें 'जड़' जैसा दिखता है, उसमें भी जब चैतन्य, आत्मा एवं उसकी ऊर्जा छिपी हुई रहती ही है, और वह ऊर्जा यदि ज्ञान-स्वरूपिणी, स्वयंप्रकाशिनी है तो उसके विषय में 'अज्ञान' शब्द अपप्रयोग ही कहलायेगा।

प्रश्न बड़ा गम्भीर पूछा। सामान्य रूप से ज्ञान द्वारा अज्ञान के निराकरण की बात कही ही जाती है। लेकिन ज्ञान के परले पार जाने की बात कही गयी, इसलिये प्रतीत होता है कि ये ज्ञान-अज्ञान शब्द आत्मा के विषय में प्रयुक्त हुए हैं।

प्रश्न यह है कि स्वरूप का अज्ञान सम्भव है क्या ? उस ओर लक्ष्य ही न किया गया हो, अवधान न दिया गया हो, अनवधान में ही जी रहे हों तो उसे अविद्या या अज्ञान कहा जा सकता है। (कृपया "सर्वाङ्ग को कान बना कर अवधान दीजिये।" पूरे ध्यान से सुनिये। श्रोता का सम्यक् श्रोतृत्व ही वक्ता के वक्तृत्व का सत्त्व है।) तो जो स्वरूप है, आत्मा है, चैतन्य या ऊर्जा है, उसके विषय में हम-आप को 'अज्ञान' है यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हमारे भीतर ज्ञानस्वरूप आत्मा, सत्ता, चैतन्य विद्यमान है। सत्-चित्-आनन्द उसका लक्षण है, अतः स्वरूप का अज्ञान सम्भव नहीं। हमारी रुचि नहीं उधर, इसलिये उसे देखा नहीं, देखते नहीं। हमें फुर्सत नहीं है उस ओर देखने की--नौकरी-धन्धा-काम-बाल-बच्चे-नाते-रिश्ते, सामाजिक सम्बन्ध इत्यादि के अनिवार्य दबाव, इनसे अपने मानसिक लगाव—इन सबके कारण। जहाँ ध्यान ही न दिया गया हो, नजर ही उठायी न हो, वहाँ 'अज्ञान' कैसे कहा जायेगा ? अनवधान सम्भव है, अज्ञान नहीं।

यदि 'ज्ञान-अज्ञान' शब्दों का प्रयोग शाब्दिक स्तर पर ही किया हो, तो शाब्दिक ज्ञान से शाब्दिक अज्ञान का खण्डन हो गया। पर यह जो शब्द ज्ञान हुआ वह मानो हाथ-पाँव में सोने की बेड़ी पड़ी। "मुझे ज्ञान हुआ है"—ऐसा ग्रह, ग्रन्थि, शब्दबन्धन बनता है, वह भारी पड़ता है। वही एक उपाधि बन बैठता है। अतः शब्दों से जिस का ज्ञान हुआ वह वस्तु अन्य है। शब्द ही वस्तु नहीं है, शब्द ही सत्य

नहीं है। (The word is not the thing. The word is not the reality.)

शब्द वस्तु के संकेतमात्र हैं। "गाय, घोड़ा" शब्द जान लिये, इनके चित्र भी देख लिये हों, लेकिन जब तक प्रत्यक्ष गाय-घोड़ा देखे न हों, उन से सीधा परिचय न हुआ हो, तब तक गाय-घोड़ा वस्तुतः क्या हैं—यह जाना नहीं जा सकता; गाय का दूध दुहना या घुड़सवारी करना तो अलग रहा! Encounter with the reality, indicated by the words

(शब्दों से संकेतित सत्य-तथ्य से सीधा प्रत्यक्ष मिलन एवं परिचय) आवश्यक है।

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये ऽ विद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥

अविद्या की अपेक्षा विद्या का अन्धकार अधिक गाढ़ है, घना है। क्योंकि शाब्दिक विद्या से हमें लगने लगता हैं कि वस्तु पकड़ में आ गयी। शाब्दिक जानकारी, शब्दों का परिचय मानो वस्तु का ही परिचय हो ऐसा भ्रम उत्पन्न करता है। मस्तिष्क में शब्द उठते हैं, चित्त में उन की खुमारी आती है, पर जीवन में उनका सत्त्व नहीं उतरता। इसलिये, इस शब्दज्ञान के परले पार जाने के लिये, शब्दों द्वारा संकेतित जो वस्तु है—उसका प्रत्यक्ष-अपरोक्ष साक्षात्कार होना चाहिये। "मन क्या है?" इस पर हजारों ग्रन्थ पढ़ लें आप; पर स्वयं अपने भीतर मन की कैसी हलन-चलन होती है उसे देखा नहीं, तो क्या मिला? What is the mental movement? What is mind? What does it bring up? यह सब देखा न हो तो क्या फ़ायदा ग्रन्थ ज्ञान का?

शब्दों द्वारा शाब्दिक जानकारी हासिल करने के बाद, उन्हें शब्द-बन्ध न बनने देना हो तो—एक कदम आगे बढ़ाना चाहिये; शब्दसंग्रह में ही अटक न बैठ कर निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर कदम बढ़ाने चाहिये। इसी लिये मौन में बैठना, मन की गतिविधि का परिचय पाना चाहिये। वस्तु से सीधे व्यक्तिगत घनिष्ठ सामना होना, Personal intimate encounter,—आवश्यक है। आप और यथार्थता के बीच कोई शब्द और वर्णन नहीं खड़े हैं। भले ही आद्यकवि के शब्द हों, या वेदोपनिषदों के हों।

विवेकानन्द, रामकृष्ण, रमण महर्षि या जे० कृष्णमूर्त्ति के ही शब्द क्यों न हों—वे यथार्थता और आप के बीच खड़े न हों। बस आप हैं और वह जीवन है, तत्त्व है, वस्तु है।

इस साक्षात्कार, (encounter) सीधे प्रत्यक्ष मिलन की घटना के बिना बोध जागृत नहीं होता। ज्ञान का परिणमन बोध में होने के लिये दो ही उपाय हैं-एक—ज्ञान द्वारा निर्दिष्ट तत्त्व का साक्षात्कार, दूसरा—उस शब्दज्ञान से बौद्धिक रूप में हो सही, जो कुछ हमें समझ में आया हो उस पर तत्क्षण आचरण। बाजार से चावल खरीद लायें, तो वह ज्यों के त्यों खाये नहीं जाते। उन्हें रांधना पड़ता है। चावल बीनना, धोना अदहन का पानी ठीक नाप से चढ़ाना, वह गर्म होने पर चावल उसमें डाल कर ढकना, उन्हें पूरा सीझने तक उचित प्रमाण में आग पर रखना, उतारना—इतना सब करके चावल का रस सिद्ध होकर भात बनने पर भोजन होता है।

इसी प्रकार शब्दों में जो अर्थ का रस है, उसे आचरण द्वारा सिद्ध करना पड़ता है। शब्दों से जो समझ में आया उस पर आचरण करते हैं तब उन शब्दों में, उनके अर्थों में, छिपा हुआ जो रस है वह प्रकट होता है। ज्ञान में समाया हुआ रस आचरण के बिना प्रकट नहीं होगा। वह शब्दों में गुंथा रहता है। वह आपके चित्त में उतरे, नजर में उतरे, वाणी में बहने लगे, व्यवहार में प्रकट होने लगे—इसके लिये शब्दों से निपजी समझ को जीना पड़ता है।

या तो आध्यात्मिक ज्ञान के पथ पर जायें हो नहीं, यदि गये हों तो पथ्य पालना पड़ता है। बिल्कुल शब्दज्ञान के स्तर पर भी जो समझा हो उस पर आचरण करना पड़ता है। यदि उसमें ठोकर लगे, भूलें हों तो! उसकी चिन्ता न करें, जीवनविभु सम्हाल लेंगे। जो ज्ञान का प्रेमी बना, सत्य का प्रेमी बना, वह तो भगवान् का 'माशूक' बन जाता है। ज्ञानेश्वरी में श्री कृष्णमुख से कहा गया है—

"मुझे भक्तों का व्यसन। भक्त मेरे निज-ध्यान।
वे कान्ता मैं वल्लभ जान। हे अर्जुन तू !"

You get charged with enquiry & your getting charged wi;h enquiry is the love call for the Life Divine to rush towords you & help you.

ऐसा ही होता है। यह "हमने सुना है" की बात नहीं है। ऐसा होता देखा है, अनुभव किया है।

ज्ञान से परे जाने की बात आप पूछते हैं, अतः कहती हूँ कि जिस स्तर पर भी जितनी सी समझ उगी हो उस पर तुरन्त आचरण करते चलिये।

The living of the verbal understanding may result in non-verbal communion with Reality.

लेकिन मनुष्य बहुधा आत्मबचाव करता रहता है यह कह कर कि हमें तो केवल शाब्दिक ज्ञान हुआ है। जब पूरा बोध होगा—भीतरी परिवर्तन होगा, तब देखेंगे यानी आचरण करेंगे।

अतः शब्द-निर्दिष्ट वस्तु के साक्षात्कार के लिये अपने जीवन में प्रयोग का पुरुषार्थ, और जितना समझ में आया हो उसके आचरण का पुरुषार्थ करें तो ज्ञान में से बोध निपजता है, अर्थ का रस सिद्ध होता है। जैसे चावल में से महाप्रसाद भात बनता है। अनाज-सब्जी-मसाले लेकर रसोई बनाते हैं—उसमें यही पदार्थों के भीतर पड़े रस को सिद्ध करके प्रकट करने, विभिन्न रसों का ओषधिगुणों के संवाद के अनुसार एवं स्वाद-सुरुचि के अनुसार सम्मिश्रण करने की ही तो कला है! रसोई करने और शास्त्रीय संगीत के गायनादि में कोई बहुत अन्तर नहीं। अप्रकट रसों को प्रकट किया जाता है। इसी तरह बोध का अर्थ है ज्ञान में से सिद्ध हुआ रस। आत्मज्ञान-मात्र से सन्तुष्ट न रह कर आत्मबोध की ओर मुड़ना पड़ता है।

The act of listening implies two things. 1—listening to the words, & 2—perceiving simultaneously the meaning indicated by the words, and what is happening inside overselves.

(श्रवण कर्म में दो निहित हैं—(१) शब्द सुनना, (२) शब्दों का अर्थ देखना एवं साथ ही साथ अपने भीतर क्या हो रहा है—यह देखते चलना।)

●

पञ्चम प्रवचन

ता० ३०-१-८८ प्रात:

हम धर्म की ओर, भगवान् की ओर, आत्मसाधना की ओर क्यों मुड़ते हैं ?—यह प्रश्न कभी अपने आप को पूछते हैं क्या ? मनुष्य देह में जन्म पाया। इस मनुष्य देह में छिपी हुई जो मानवता है, मनुष्यता का सत्त्व है, वह प्रकट हो, बढ़े, परिपक्व हो--इसके लिये हम भगवान् की ओर मुड़ते हैं या मनुष्यों में से उठ जाने, दूर अलग हो जाने के लिये ? यह प्रश्न हमें अपने आपसे पूछना चाहिये।

हमारा जन्म समाज में होता है, पशु-पक्षियों की तरह केवल समूह बना कर हम नहीं जीते। जो लाखों वर्ष इस पृथ्वी पर बिताये हैं, उसमें जीने की यह पद्धति मनुष्य जाति ने विकसित की कि समाज बना कर रहें। अर्थात् साथ रहें और इस पृथ्वी पर जो अपना सह अस्तित्व है, उस का रूपान्तर सह-जीवन में करें। यह एक बहुत बड़ी जिम्मेवारी मनुष्य जाति ने स्वीकार की हुई है। मानवीय संस्कृति का, सभ्यता का यह अभि-प्रेत अर्थ है कि एक दूसरे के साथ जीयें। अभी यह हमें सधा नहीं है। सहअस्तित्व का रूपान्तर सहजीवन में करना बन नहीं पड़ा है। क्योंकि एक दूसरे के साथ रहते हुए अपने भीतर वर्तमान जो पाशवी अंश हैं वे प्रकट होते रहते हैं। क्योंकि मनुष्य भी आखिर पशु तो है, एक प्राणी तो है। उसके अंश शरीर-मन-बुद्धि में बचे हुए हैं (The hangover of animal instincts, trends) इसलिये अपने इस सह-अस्तित्व में संघर्ष है, राग-द्वेष है, युद्ध है, एक-दूसरे का शोषण है। नादान-नासमझ बच्चे जैसे खेलने में लड़ते-झगड़ते हैं, गेंद के लिये, खेल की गोटियों, गोलियों, गुट्टों या अन्य खिलौनों के लिये, खेल के दाँव के लिये, वैसे हम आपस में झगड़ते हैं पृथ्वी की नैसर्गिक सम्पत्ति और वस्तुओं के लिये तथा जो कुछ हम पैदा करते हैं, उसका वितरण भी हमें परस्पर शोषण और संघर्ष के सिवा करना अभी आया नहीं है।

इसलिये भगवान् की ओर, धर्म-अध्यात्म की ओर मुड़ने का प्रयोजन है कि समाज के घटक के नाते अधिक अच्छी तरह जीना हमें आये, एक-दूसरे का शोषण किये बिना हम जी सकें। शोषण-मूलक अर्थतन्त्र या अर्थ व्यवस्था की बजाय सख्यमूलक सहयोग-परायण अर्थनीति बना सकें। सब

की सुख-सुविधा-निर्वाह की व्यवस्था करते हुए, 'शासक' और 'शासित' के पुराने परम्परागत भेदमूलक सम्बन्ध रखने के बजाय, केवल व्यवस्थापक के नाते जीना व काम करना हो पाये। (Instead of administering the human beings, management of human relationship should be the role of administration & the governments) ये जिम्मेवारियाँ निभाना अभी बाकी है।

कोई उच्च नहीं, कोई नीच नहीं, कोई श्रेष्ठ नहीं, कोई कनिष्ठ नहीं; जन्म के कारण, जाति के कारण, सम्प्रदायों के कारण मनुष्य में कोई स्तरभेद नहीं आता। हम सभी मनुष्य के नाते समान हैं। उपासना के मार्ग भले भिन्न हों, रुचि-अरुचि के कारण जीवन की शैलियाँ भिन्न हों; लेकिन जीवन की सत्ता के सामने, मरण की सत्ता के सामने हैं हम सब समान ही! यह हमें सीखना है।

भगवान् व धर्म-अध्यात्म के मार्ग पर चलना है कि हम अपनी उक्त-जिम्मेदारियाँ अधिक अच्छी तरह निभा सकें, इसकी योग्यता हम में आये इसलिये! या कि मनुष्यों के बीच से उठ कर अकेले कहीं चल देने के लिये? कि "हमें तो समाधि प्राप्त हो गयी, ज्ञान प्राप्त हो गया, अब इसके बाद कोई कर्म (ज्ञानोत्तर कर्म) शेष नहीं रहता। इसलिये अब हमारी सामाजिक मृत्यु हो गयी। हम संन्यासी हो गये—समाज से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं, समाज की हमें पड़ी नहीं!"

अरे, अध्यात्म मानवता को समृद्ध करने के लिये है या मानवता खो देने के लिये? जप, तप, योग, याग, मन्त्र, तन्त्र आदि के द्वारा उपलब्ध होने वाली सिद्धि-शक्ति-अनुभूतियों में से जो आत्मबल प्रकट होगा, वह एक सामाजिक शक्ति बनेगा या नहीं? समाज-धारण के लिये उपयोगी समाज-शुद्धि एवं परिवर्तन के लिये उपयोगी प्रेरक बल बनेगा या नहीं? या वह व्यक्तियों की सर्वथा व्यक्तिगत कमाई, उपलब्धि बना रहेगा? ईश्वरोपासना, आत्मसाधना, योग-समाधि आदि के द्वारा क्या कोई अलग आध्यात्मिक विशेष-शिक्षित (Elite) वर्ग उत्पन्न करना है? जो समाज-विमुख-मानवविमुख होगा! और उनकी क्या एक Psychic Aristocracy उत्पन्न करनी है? आपके सामने यह मूलभूत प्रश्न रखना है।

जिस प्रकार वह मूलसत्ता-ब्रह्मतत्त्व-विश्वाकार हुई तो क्या उसमें कोई कमी आ गयी? वह 'शबल' हो गया? उसकी विशुद्धता कम हुई?

या कि नाना नाम-रूप-आकारों से सजी हुई यह सत्ता अधिक समृद्ध हुई ? यह जैसे एक आध्यात्मिक प्रश्न है Metaphysical fundamental controversy है, लोगों ने इसे विवाद का विषय बना लिया है। अध्यात्म द्वारा मनुष्यता परिष्कृत-परिमार्जित होगी, उसका उत्थान, ऊर्ध्वीकरण होगा, या मानवता हो खो जायेगी ? यह प्रश्न भी अत्यन्त महत्त्व का है।

भगवान् की ओर, धर्म-अध्यात्म की ओर जाने वाले मनुष्य एकाकी बन जाते हैं, उन्हें मनुष्यों का साथ अच्छा नहीं लगता, घर-परिवार-समाज की जिम्मेवारियों से दूर रहना चाहते हैं। जप-तप के कारण, मन्त्र-तन्त्र या हठयोग की साधना के कारण प्रकट हुई कुछ अतीन्द्रिय अनुभूतियों एवं सिद्धियों-शक्तियों के अभिमान में आकर मानो उन्हें उद्दण्डता का परवाना मिल जाता है। और सामान्य लोग भी उनकी उद्दण्डता का, क्रोध का कौतुक करते हैं–"ये योगी महाराज बड़े क्रोधी हैं, उनसे सँभल कर बोलना ! उन्हें ज़रा सी भी गड़बड़ सहन नहीं होती !"–बेचारे गृहस्थियों ने क्या ठेका लिया है इन ब्रह्मचारियों-योगी-यतियों-तपस्वियों को सम्हालने का ! उनका जीवन-निर्वाह चलायें, उनकी मर्जी सम्हालें, उनकी अटपटी लहरें-धुनें-सनकें भी सम्हालें ?? खुद दीन बने रहें ?

आपने मुझ जैसे क्रान्तिमय व्यक्ति को शिबिर के लिये बुलाया, बड़े साहस की बात है।

इन्कलाबे आग हैं हम, दिल्लगी कोई मत करो !
खेल ही के खेल में कहीं जल उठे घर–बार सारा !
आँच में इस आग की धोखे से जो भी आ गया।

खो कर अमन और चैन को लुत्फे तबाही पा गया।
इश्क के परवाने हैं हम, मौत के दीवाने हम।
शौक जीने से अगर है, दूर हम से सब रहो !

मेरे देखे अध्यात्म सम्पूर्ण जीवन की समग्र क्रान्ति है, आमूलाग्र परिवर्तन है। बौद्धिक विलास नहीं, केवल मनोरंजन नहीं।

इसलिये अध्यात्म से, ईश्वरोपासना से तो मनुष्यता समृद्ध होनी चाहिये। जो है वह खोये नहीं, बल्कि समृद्ध बने। मलिन हो वह प्रक्षालित, परिमार्जित-परिष्कृत बने, अशुद्ध हो वह शुद्ध हो जाय। और जो शक्ति प्रकट हो वह किसी की व्यक्तिगत वस्तु न रह कर सामाजिक शक्ति बने। उसमें से समाज का भरण-पोषण-शुद्धीकरण-परिमार्जन-परिवर्तन घटित हो। धन, शस्त्र, राज्य आदि के द्वारा होने वाले परिवर्तन की प्रक्रियायें

जीर्ण, जर्जर हो गयी हैं, उनके बदले आत्मबल के आधार पर समाज रचना कैसे बदली जाय इसकी प्रेरणा मिले। प्रेरक तत्त्व बने अध्यात्म।

जैसे एक Intellectual Elite वर्ग बनता है, Administrative Elite वर्ग बनता है, वैसे अध्यात्म के नाम पर An Elit living in isolationn psychically & psychologically—ऐसा न बने।

वह बना हुआ है—हिन्दु धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म, बौद्ध, जैन सभी में, और उनका एक पुरोहित वर्ग बन गया है। उसने ठेका लिया बहुजन-समाज के उद्धार का। इतना ही नहीं, बहुजन समाज पङ्गु बन गया। "हम दुःखी हैं क्योंकि हमारा प्रारब्ध ही ऐसा है। हमने पिछले जन्म में पाप किये हैं""इत्यादि"—ये सभी भ्रान्त धारणायें-मान्यतायें दूर करने के लिये, मण्डाले की जेल में बैठ कर ज्ञानोत्तर कर्म का प्रतिपादन करने वाला--"कर्मयोगशास्त्र अथवा गीतारहस्य" यह ग्रन्थ लोकमान्य तिलक ने लिखा। ये धारणा-मान्यता-भ्रम दूर करने के लिये ही कौसानी के एक डाकबंगले में बैठ कर महात्मा गांधी ने अनासक्तियोग—श्रीमद्भगवद्गीता पर लिखा; और धुले (महा०) की जेल में राजकीय कैदियों के लिये प्रवचन करते हुए—गीता ब्रह्मविद्या की उपासना का निरूपण सन्त विनोबा ने किया। यह ब्रह्मविद्या, यह अनासक्तियोग एवं ज्ञानोत्तर कर्मयोग--भावी युग में नवमानवके जीवनशास्त्र का अधिष्ठान बनेगा।

इसका यह अर्थ नहीं कि मन्दिर में गये, पूजा की, भजन गाये, कीर्तन किया तो इससे थके-माँदे मन-बुद्धि को विश्राम और शान्ति नहीं मिलेगी जो संसार के त्रिविध तापों से क्लान्त-उद्विग्न होगा उसकी ग्लानि व क्लान्ति नहीं मिटेगी, मन-बुद्धि की कुण्ठा दूर नहीं होगी, जो भयभीत हो उसे कुछ आधार नहीं प्रतीत होगा—ऐसा नहीं, वह तो होगा। किन्तु वे आनुषङ्गिक परिणाम हैं! वही मुख्य प्रयोजन नहीं है भजन का। आनुषङ्गिक राहत एक वस्तु है, और उसी को मुख्य प्रयोजन बना बैठना अलग चीज है।

आपने सुना होगा कि पिछले २५ वर्षों में कम से कम १२-१३ वर्ष मेरे विदेशों में बीते हैं। ऑस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलेण्ड, से लेकर दक्षिण अमेरिका-उत्तर अमेरिका-जापान-पश्चिम-पूर्व योरप मध्यपूर्वी देश—इत्यादि प्रायः ६० देशों में बहुत सारा समय बीता है। वहाँ इन २५ वर्षों में—भारत के तत्त्वज्ञान की ओर देखना, योगसूत्रों का दोहन, वेदोपनिषदों

का अध्ययन, आयुर्वेदों का अध्ययन व अभ्यास—आदि की बड़ी हौंस जगी है। पश्चिमों प्रायः ४५ देशों में ५०० से भी अधिक योग-शिक्षक हैं। पिछले सितम्बर में स्विट्जरलेन्ड में वहाँ के चुने हुए ५०० योगशिक्षकों ने मेरे सान्निध्य में रहने की इच्छा प्रकट की, हम साथ रहे। उन्हें ब्रह्म-विद्या और योगशास्त्र का परस्पर सम्बन्ध समझना था।

परन्तु इस हठयोग के, तन्त्रयोग के या वेदोपनिषदों के भी अध्ययन में उनका जो हेतु है—वह बड़ा मजे का है—देह को आरोग्य मिले, देह का सौष्ठव बढ़े, देह व मन में होने वाले रोग दूर किये जा सकें—इसकी ओर अधिक लक्ष्य है; बल्कि वही मुख्य प्रयोजन है कहूँ तो भी कोई बहुत अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसके साथ-साथ, जो अतीन्द्रिय जगत् (occult world) है, जिसका परिचय भारत में बहुत पुराना है, परन्तु योरोप-अमेरिका में बिल्कुल नया है। यानी—१९०१ में 'रिचर्ड बॅक्नी' ने "Cosmic Consciousness" नाम की पुस्तक लिखी। उससे पहले १८७५ में मैडम ब्लॅवेड्स्की ने अतीन्द्रिय जगत् के विषय में बोलना शुरू किया। १८९२ में स्वामी विवेकानन्द ने विश्वधर्मपरिषद में उस जगत् के अनेकों रहस्यों का उद्घाटन किया।—अतः अतीन्द्रिय जगत् की बातें, उसमें की शक्तियाँ प्राप्त करने के उपाय व प्रक्रियायें, उनके अनुभव लेने के शास्त्र—ये सब पाश्चात्य जगत् के लिये नयी चीजें हैं। वैसे हठयोग-तन्त्र-मन्त्रयोग-ध्यानयोग आदि से वे शक्तियाँ कैसे मिलती हैं ? उनकी वैज्ञानिक—जाँच परख एवं (scientific verification) कैसे की जाय ? इसके प्रयोगों की ओर अधिक लक्ष्य है। इसी तरह Psycho-therapy, Psycho-Physical Therapy, Psychic therapy—इनके लिये ध्यान, योगासन, प्राणायाम आदि का प्रयोग किया जाता है।

वह सब सम्पूर्ण रूप से व्यर्थ है यह मेरा आशय नहीं, किन्तु यदि वहीं अटक जायें, और वही मुख्य प्रयोजन बन जाये, तो ईश्वरोपासना से, आत्मोपलब्धि के कारण, योगसाधना के द्वारा जो परिवर्तन, सर्वथा जड़ मूल से, चेतना के आयाम एवं गुणवत्ता में (Transformation in the very dimension, & quality of consciousness) होना अपेक्षित है, और चेतना के नये आयाम से समृद्ध हुआ मानव बनना, उसके द्वारा नया समाज बनाया जाना अभीप्सित है—वह सब उद्देश्य एक तरफ रह जायेगा।

इसलिये, कम से कम भारतीय लोग धर्म-अध्यात्म-योगसाधना आदि को केवल मनः शारीरिक चिकित्सा-उपाय बना कर न छोड़ दें। उनके

आनुषङ्गिक परिणाम तो होने ही वाले हैं, (भयग्रस्त का भय निकल जायेगा, थके हारे को विश्राम मिलेगा, उद्विग्न-कुण्ठित को शान्ति व उत्साह मिलेगा) परन्तु उसी को प्रयोजन मान लें, और वह मिलने पर मनुष्य अल्पसन्तुष्ट हो कर बैठ जाय, तो मुझे लगता है कि इस देश का ही नहीं, मानवीय संस्कृति का भारी नुक्सान होगा।

सौ वर्ष पहले यह बात हमें समझायी थी—बंगाल में गंगातट पर दक्षिणेश्वर में बैठे उन निरक्षर अर्धनग्न ब्राह्मण—श्री रामकृष्ण परमहंस-देव ने! विवेकानन्द जब निर्विकल्प समाधि का आग्रह करने लगे, बुद्ध-गया अथवा हिमालय में चले जाने की इच्छा प्रदर्शित करने लगे, तब रामकृष्ण देव ने कहा था—"अरे नरेन! तू इतना स्वार्थी होगा ऐसी मुझे कल्पना नहीं थी। दीन-दरिद्री-दुःखी लोग इस देश में इतने अधिक हैं, उनको मदद करने के बजाय तुझे अपनी निर्विकल्प समाधि का सुख भोगने की पड़ी है?" वे कोई समाजशास्त्र पढ़े हुए व्यक्ति नहीं थे। बंगाल से बाहर कहीं गये भी नहीं थे। उन्हें भूगोल मालूम नहीं था। परन्तु परतत्त्व स्पर्श होने पर बुद्धि जब प्रज्ञा में परिणत होती है, तब विश्व दर्शन होता है।—वह घटित हो चुका था उस विभूति में। इसीलिये उन के पास आये हुए लड़कों को उन्होंने संन्यास की दीक्षा दी, तब कहा—"तुम लोग जीवन में अहंकार का सम्यक् न्यास साधो। और दरिद्रनारा-यण की सेवा करो। जो निरक्षर हों उन्हें अक्षरज्ञान दो, दीन-दुःखी हों उन्हें सान्त्वना दो, बीमारों के लिये दवाखाने बनाओ, वहां उनकी सेवा करो; जो बेरोजगार हों उनके लिये रोजगार के साधन खड़े करो।" "संन्यासी यह सब करेंगे?" "हाँ अवश्य करेंगे। तुम किसलिये संन्यासी हो रहे हो? अध्यात्म को मानवविमुखता-समाजविमुखता में से परावृत्त करने (लौटा लाने) को। यही मानवधर्म का बिरुद बनाओ!"—ऐसा कहने वाले वे महान् विभूतिमय व्यक्ति हुए। तभी तो विवेकानन्द जी ने कहा—

"स्थापकाय च धर्मस्य सर्वधर्मस्वरूपिणे,
अवतारवरिष्ठाय रामकृष्णाय ते नमः"

—और परमहंसदेव का वह मन्त्र उठा लिया। जिन संन्यासियों को अग्नि-स्पर्श का भी निषेध था, जिन्हें एक स्थान पर तीन रात नहीं बितानी थी, जिन्हें अनिकेत और 'दण्डी' होना चाहिये था, जिन्हें नगरों में, घरों में नहीं रहना था—वे रसोई करते, रोगियों को सम्हालते, जहाँ कहीं बाढ़ या कोई आधिदैविक विपत्ति आयी हो वहाँ जाकर पीड़ितों की

सहायता करते। सारा परम्परा-रूढ़ि-प्रवाह दक्षिणेश्वर में बैठे एक महा-पुरुष ने बदल दिया।

वह विभूति कहाँ-कहाँ पहुँची बताऊँ आपको! अर्जेन्टोना में 'सान मार्कोस' नाम का एक छोटा-सा गाँव है, चारों तरफ पहाड़ों से घिरा हुआ। वहाँ मेरा शिविर था। दक्षिण अमेरिका के दस देशों में से लोग वहाँ आये थे।...एक दिन उस गाँव में घूम रही थी (थोड़े से ही घर थे उस गाँव में)—वहाँ के लोग घर में कैसे रहते हैं, क्या करते हैं देखने चली थी। एक घर में घुसी तो वहाँ रामकृष्णदेव की छबि रखी थी। मैंने मन में कहा—"अरे ये बुढऊ यहाँ भी पहुँच गये?" चिली में, बोलिविया, कोलम्बिया में भी वे पहुँचे हुए हैं, अन्य देशों को तो गिनाने की जरूरत ही नहीं।

इस लिये ज्ञानोत्तर जीवन में जड़ समाधि न हो, समाज-विमुखता न हो, समाज-अभिमुखता हो, नये आयाम से, नये प्रयोजन के लिये; स्वकेन्द्रित हेतु के लिये नहीं, विश्वकेन्द्रित हेतु के लिये हो;—यह विवेकानन्द जी ने स्पष्ट—प्रकट शब्दों में कहा। उनके ग्रन्थ—"My Master" 'राजयोग' आदि पढ़ने चाहियें।

"We are the children of that new Era"

उनके बाद अनेक सन्त-महात्मा आये, श्री अरविन्द आये। उन्होंने अलीपुर की जेल में से दौड़ कर, पाण्डिचेरी में बैठ कर एक महान् उदात्त कार्य किया—"The ascent of matter, the descent of Supramental Consciousness" उसके लिये समग्र योग (Integral yoga) की साधना बनाई।

(उसमें कैसे आश्रम का स्वरूप आया, फिर अलगता आ गयी और उस आश्रम का विलय भी कैसे हो गया—उस चर्चा में नहीं उतरना है। किन्तु। श्री रामकृष्ण द्वारा अध्यात्म-साधना की चेतना में जो एक प्रेरक धक्का लगाया गया था वह प्रवाह आगे बढ़ता ही चला। और वह आ पहुँचा महात्मा गाँधी तक (जिनका आज निर्वाणदिवस है।)

साधना करने के लिये, आत्मसाक्षात्कार के लिये घर-द्वार-सम्बन्ध छोड़ भागने की जरूरत नहीं है। समाज में रहते हुए वह साधना की जा सकती है, और करनी चाहिये। यह सूत्र गाँधीजी ने विवेकानन्दजी से पकड़ लिया। विवेकानन्द संन्यासी थे, गाँधीजी गृहस्थ थे। 'अहिंसा'

शब्द भी गांधीजी का अपना गढ़ा हुआ नहीं है, बहुत पहले, कम से कम २५०० वर्ष पहले भगवान् महावीर के द्वारा इसका प्रयोग हुआ और उनसे भी पहले योगसूत्र में यह शब्द आया—(अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः) 'सत्य' की उपासना प्रह्लाद, राजा हरिश्चन्द्र, श्रीराम ने भी की थी।

महात्मा गांधी की सत्य-अहिंसा की उपासना की विशिष्टता यह थी कि उन्होंने कोई शक्ति-सिद्धि-कीर्ति या मुक्ति प्राप्त करने के लिये वह साधना नहीं की थी। उन्होंने सत्य व अहिंसा को एक सामाजिक शक्ति बनाने का प्रयोग किया, आत्मसाधना की प्रक्रिया को समाज-परिवर्तन बनाने की प्रक्रिया बनाने का महान् पुरुषार्थ किया। सत्य-अहिंसा-अपरिग्रह-शरीरश्रम आदि एकादशव्रतों को उन्होंने सामाजिक प्रेरकबल क्यों बनाया ? आत्मसाधना का समाजीकरण क्यों किया ? इसका भी संक्षिप्त इतिहास हम एक नई नजर से देख लें। तब, मैं अध्यात्म को नवानक्रान्ति, चेतना-परिवर्तन क्यों कहता हूँ—यह आपके ध्यान में आयेगा। यदि इस शिविर में बैठे हुए हम गांधी जी को श्रद्धाञ्जलि देना चाहें तो उनके कार्य का उद्गम कैसे हुआ इसका विहगावलोकन कर लें।

वे इंग्लेन्ड में रहे, अफ्रीका में रहे, उससे पहले महर्षि कार्ल मार्क्स, एंगल्स्, लेनिन ये जगत् की रंगभूमि पर आ चुके थे। और समाज में शोषण का अन्त लाने की व्यवस्था हो सकती है, शासन का भी अन्त हो सकता है, मनुष्य द्वारा आंकी हुई जो 'राष्ट्र' नाम की रेखायें है, उन्हें भी मिटाया जा सकता है, और जो उत्पादक है—पर दलित है, श्रमजावी है, सर्वहारा है—उनके हाथों में समाज की धुरी व सूत्र दिये जा सकते हैं—ये सपने गांधीजी से पहले देखे जा चुके थे।

हम यह गरूर (अभिमान) न करें कि हमें (भारतीयों को) ही अध्यात्म मालूम है। ये स्वप्न देखने का 'कस' व 'दम' जिस चित्त में रहा हो, उसको आध्यात्मिकता मुग्ध (कली रूप) भले हो, पर रही अवश्य होगी। दूसरे के दुःख से करुणाद्रवित हुए बुद्ध को, महावीर को, हम 'करुणावतार' कहते हैं, पर मुझे कार्ल मार्क्स भी उनकी अपेक्षा कम करुणावतार नहीं जान पड़ते। परन्तु उनका जो साध्य था—The classless society, the whithering away of the States, the uniting of the workers & the Proletariat of the world—

इस त्रिविध साध्य को सिद्ध करने के लिये जो माध्यम और साधन उपयोग में लिये गये, जिन प्रेरक बलों का उपयोग हुआ, उनमें अवैज्ञानिकता रह गयी। उसमें वर्गविग्रह का सिद्धान्त क्यों आया ? धर्म को अफ़ीम कहकर छोड़ देने को उन्होंने क्यों कहा ? बड़ा विचार-प्रवर्तक इतिहास है। उसके विस्तार में जाने का अभी समय नहीं है। किन्तु यह सब यदि अध्यात्म में न आता हो, समग्र जीवन का अभिनव दृष्टि से विचार एवं चिन्तन यदि अध्यात्म का क्षेत्र न हो, तो वह अध्यात्म कौड़ी-भर मूल्य का रह जायेगा। क्योंकि अध्यात्म का सम्बन्ध मानवता को परिमार्जित करने से है। मनुष्य कितनी ऊँचाइयों तक चढ़ सकता है ? यह अध्यात्म में देखा जाता है।

ऐसे ही जीवनसाधक महात्मा गाँधी थे। उन्हें मैंने राजनैतिक नेता रूप से नहीं देखा। उनके जीवन एवं जीवनकार्य से मेरा सम्बन्ध भी आया नहीं। मैं तो सन्त विनोबा एवं जयप्रकाशजी के युग का सिपाही हूँ, साधक हूँ। किन्तु महात्मा गाँधी एक अपूर्व जीवन साधक, एक भागवत व्यक्ति थे। प्रभुश्रद्धा उनके जीवन की मूल शक्ति थी।

वहाँ—योरोप में परम्परागत प्रेरक बल (motivations) उपयोग में लाये गये। पहले तो दो वर्गों का भेद दिखाया गया—एक शोषक वर्ग, एक शोषित वर्ग, फिर शोषक वर्ग के खिलाफ दूसरे वर्ग में कटुता, द्वेष, रोष उत्पन्न हुआ। फिर यह वर्ग शोषकों से लड़े; उन्हें हटाते, समाप्त करते चले। और ज़रूरत पड़ने पर एक आखिरी हिंसा भी कर ली जाय—बाद में अहिंसा की स्थापना के लिये। कार्लमार्क्स ने "Das Capital" में अनेक बार इस "अन्तिम हिंसा" (Last Violence) शब्द का प्रयोग किया है। इसलिये वहाँ—क्रोध-ईर्ष्या-हिंसा का उपयोग किया गया। रूस में बोल्शेविक क्रान्ति में कितना रक्तपात हुआ ? फिर माओ और चाऊएनलाई के समय चीन में कितना रक्तपात हुआ ? यह विचार करने लायक है।

उनके बाद आये गाँधी। उन्होंने कहा कि मार्क्स-लेनिन का साध्य तो उदात्त है; पर उस साध्य के लिये यदि साधन ऐसे क्रूर अपनाने पड़ते हों, यदि (If the human psyche is going to be the prisoner of all traditional & out of date motivations) तो हम समाज को आगे कहीं नहीं ले जा सकेंगे। व्यक्ति का ही आरोहण नहीं होगा तो

समाज का कैसे होगा ? इसलिये उन्होंने कहा कि अन्याय का प्रतिकार अवश्य करें, लेकिन जो अन्यायी है—उसका तिरस्कार, उससे द्वेष करके उसे मार डालने की भाषा हमें नहीं बोलनी है। शोषण नहीं रहने देना है, शैतानी हुकूमत (अंग्रेजी शासन) अवश्य हटानी है लेकिन अंग्रेजों से द्वेष करके नहीं। He tried to take the human consciousness to a subtlety, (उन्होंने मानवीय चेतना को एक सूक्ष्म ऊँचाई पर ले जाने की कोशिश की) उन्होंने कहा कि संघर्ष अवश्य करो; अन्याय व शोषण के प्रतिकार के लिये संघर्ष तो करना ही पड़ेगा, कहीं असहयोग भी करना पड़ेगा; पर वह भी हम शान्तिमय रीति से करेंगे। संघर्ष करने का भी एक नया आयाम, नया तरीका अपना कर देखें। मारने के काव्य बहुत रचे गये, अब मरने का काव्य रचा जायेगा। हमें मरना मंजूर है, मारना नहीं। प्रतिकार में भी हम मरें भले, पर मारेंगे नहीं।

अहिंसा—यानी सृजनशील प्रेम !—ऐसी व्याख्या की गाँधीजी ने। मूल से वे कविहृदय एवं भक्त मानव थे। विश्व की और देश की परिस्थिति ऐसी थी कि उन्हें योद्धा बनकर राजनीति में उतरना पड़ा। गोखले-साहब के आग्रह से उन्हें स्वातन्त्र्य-संग्राम का सेनानी पद लेना पड़ा। गोखले जैसे मृदु, सौम्य एवं उदार चित्त महापुरुष थे, वैसा ही गाँधीजी का स्वभाव था, और विलक्षण भक्त व्यक्ति थे। इसीलिये उन्होंने सत्य-अहिंसा का मार्ग अपने सामने रखा। ये थे मानवजाति के लिये नये मूल्य एवं नये प्रेरक बल।

मैं दो वर्ष पूर्व पोलेन्ड में थी। वहाँ एक Solidarity Movement चलता है;'लेकवालेसा' उसके नेता हैं, बड़े उम्दा व्यक्ति हैं। उनके अन्तरङ्ग वर्तुल से लगभग तीन घण्टे चर्चा 'वॉर्सा' के समीप एक गाँव में हुई। मैंने उन्हें कहा कि भारत में ईश्वरनिष्ठ लोगों के हाथों में अहिंसा एवं शान्ति का शस्त्र गाँधीजी ने पकड़ाया था। आप लोग मानवनिष्ठ हैं, ईश्वरनिष्ठ नहीं, बल्कि नास्तिकतावादी हैं, किन्तु अहिंसा में जो मानवीय तत्त्व है, और क्रान्ति की प्रक्रिया एवं प्रेरक बलों में ही जो मानसिक क्रान्ति है,—यह जो उसमें मनोविज्ञान का ऊर्ध्वीकरण (sublimation) का रूप आता है इसे तो आप समझ ही सकते हैं। पोलेन्ड में—पूर्व योरोप में आपका यह आन्दोलन यदि अहिंसा एवं शान्ति को अपना शस्त्र बनायेगा तो भारत में हुए प्रयोग की अपेक्षा आपके प्रयोग का महत्त्व कहीं अधिक रहेगा।

सत्यनिष्ठा से मनुष्यचेतना परमात्मचेतना तक जा सकती है। अहिंसा द्वारा, किसी को भी दुःख न पहुँचाते हुए, किसी का भी अपमान, उपमर्द न करते हुए मनुष्य का अपना अन्तरङ्ग का विकास होता है—यह तो मैं देखती ही हूँ, यह उसका अन्तरङ्ग है। किन्तु साथ ही उसका जो सामाजिक साधना का स्वरूप है इसे भी हम देखें।

गाँधीजी अपरिग्रह लाये। अपरिग्रह का अर्थ गाँधीजी की तरह ही घुटने तक ऊँची धोती या पंचा पहनना या ऊपर केवल गमछा या अङ्ग-वस्त्र डाल कर घूमना—यह नहीं। गांधीवादी लोग भले वह अर्थ करें। क्योंकि आमतौर पर जो शिष्य बनते हैं वे बहिरंग ही देखते हैं, अन्तरंग नहीं देखते।

Not knowing how to punish the great men for their greatness, fate punishes them with their disciples.

वह तकली, चरखा, तेलघानी, आधी धोती इत्यादि में ही मैं गाँधी जीवन-दर्शन को बांध नहीं सकती। वे अपरिग्रह की बात इसलिये लाये कि पश्चिम में हुई क्रान्तियों के बाद, जिन्होंने अन्याय व शोषण का अन्त लाने के लिए क्रान्ति की थी,—उनके हाथ में सत्ता जाते ही उनमें प्रति-क्रान्ति वाली वृत्तियाँ आ गयीं (The counter-revolutionary tendencies in the groups handling the Power.) राजकीय सत्ता हाथ में आते ही वे—अन्याय व शोषण का अन्त लाने वाले स्वयं ही अन्यायी और शोषक बन बैठे। एक नया व्यवस्थापक वर्ग खड़ा हो गया। हमारे एक मित्र थे कॉमरेड जिलास, जिन्होंने 'Manegerial Class' नाम की पुस्तक लिखी, (जिनके कारण युगोस्लाविया में मैं अनेक महीने रही और वहाँ के लगभग सभी विश्वविद्यालयों में भाषण हुए) उन्होंने विस्तार से बताया है कि व्यवस्थापक वर्ग कैसे बन गया, उनके द्वारा कैसे अन्याय और शोषण होने लगा।

इसी तरह सत्ता का सरे आम दुरुपयोग गत चालीस वर्षों से भारत में हम खुली आँखों से देख रहे हैं। गाँधीजी का सत्य किसी को पचा नहीं, अहिंसा भी पची नहीं, अपरिग्रह भी पचा नहीं। पर उन्होंने जो अपरिग्रह की बात कही थी उसका अर्थ था कि साधक के जीवन में, कम से कम व्यक्तिगत जीवन में तो शोषण का अन्त आना ही चाहिये। साधक यदि शोषक धन्धे अपनाये, घर में परिग्रह बढ़ाये, और फिर चाहे कि ऐसा समाज बनेगा जहाँ गरीबी नहीं, भुखमरी नहीं, जहाँ कोई दरिद्र

नहीं होगा—तो अशक्य है। अमीरी के सपने देखना और गरीबी दूर करने के प्रयत्न करना—यह कितना बड़ा अन्तर्विरोध है। हमें तो तब तक गरीबी स्वीकार करनी पड़ेगी जब तक देश में भुखमरी है, लाखों लोगों को एक समय भी भरपेट अन्न जुटता नहीं, और ४८ प्रतिशत लोगों को जीवन धारण के स्तर से नीचे ही गुजारा करना पड़ता है।

अब गाँधीजी के अपरिग्रह का आध्यात्मिक अर्थ देखें। हम अध्यात्म में कहते हैं न! कि आप साधना के पथ पर चले हैं, जगत् का मिथ्यात्व समझ में आया है, और मालूम है कि एक दिन यह सब छोड़कर चल देना है। Death will snap away all your connections with everything you have collected physically & mentally.

इसलिये आप शारीरिक जरूरतों की पूर्ति अच्छी तरह करें, पर परिग्रह का मोह छोड़ दें। इसका सामाजिक आशय यह है कि परिग्रह छूटेगा तो अनर्जित धन (मुफ्त के माल) का मोह नहीं रहेगा। शोषण मूलक अर्थव्यवस्था नहीं रखी जायेगी। अपरिग्रह का सामाजिक मूल्य तथा अन्तरङ्ग आवश्यकता देख रहे हैं हम।

अध्यात्म के अधिष्ठान के बिना समाज को बदल नहीं सकेंगे और समाजाभिमुख—मानवाभिमुख हुए बिना अध्यात्म को उत्तुंगता साधी नहीं जा सकेगी। इन दोनों का समन्वय करने की घड़ी आ गयी है।

मन में पैसे का लोभ हो, रूप का मोह हो, इन्द्रियों में वासनायें ज्यों की त्यों रही हों, झूठ बोलने की आदत हो, जीभ पर, मन पर, किसी भी इन्द्रिय पर काबू नहीं है—और चल पड़े समाज-परिवर्तन करने! तो कैसे होगा वह? ये लोग फिर कहते हैं कि सत्ता (राजमद) भ्रष्ट कर देती है (Power corrupts) क्यों भाई? सत्ता क्यों जबर्दस्ती भ्रष्ट कर देगी? छत्रपाल को, शिवाजी महाराज को क्यों सत्ता ने भ्रष्ट नहीं किया? सवाई माधवराव पर क्यों सत्ता हावी नहीं हुई? सत्ता और सम्पत्ति का स्पर्श सहन न हो—इतना हमारा चित्त नाजुक कच्चा काँच (Glass—with care!) है क्या? अध्यात्म साधना द्वारा वह शक्ति आती है कि सत्ता और सम्पत्ति का उपयोग करना पड़े तो वह जरूरतमन्दों के हित में भलीभाँति होगा, अपने जीवन को—चित्त को दूषित नहीं करेगा। प्राचीन काल में जैसा वाणिज्यधर्म था—वणिक् लोग स्वयं अत्यन्त सादगी से रहते हुए समाज के लिए धन संग्रह करते थे। आज के गुजरात की बात नहीं कही जा सकती, लेकिन प्राचीन गुजरात के इतिहास में

वाणिज्य धर्म के अतीव उदात्त उदाहरण मैंने पढ़े हैं। सत्ता व सम्पत्ति हाथ में रहते हुए भी उससे चित्त दूषित न होता हो—ऐसा इस देश का इतिहास है। बहुत पीछे तक जाना हो तो महाराज जनक तक जा सकते हैं। पौराणिक काल छोड़ भी दें तो इधर के १०००-५०० वर्षों का ही इतिहास देख लें।

सत्य की साधना मठ-आश्रमों की स्थापना करने, शिष्य बटोरने के लिये नहीं है। घरों-घरों में ये मूल्य आयें, इसी के लिए गाँधीजी को यह अभीष्ट थी। गाँधीजी के सम्पूर्ण जीवन के बारे में कहने का यहाँ समय नहीं, पर ३० जनवरी के दिन मैं जहाँ भी रहूँ वहाँ इन दुर्दैवी महापुरुष को श्रद्धाञ्जलि अर्पण किये बिना नहीं रहती। उन्हें गाली से मार दिया इसलिये 'दुर्दैवी' नहीं कहती। किसी नवीन दिशा, नई राह को दिखाने वाले महापुरुषों के भाग्य में यह तो आता ही है; सुकरात के हाथ में विष का प्याला आया, योसू ख्रिस्त को क्रॉस-सूली पर चढ़ाया गया। That is the privilege of their greatness. उसे क्रान्तदर्शन का प्रायश्चित्त कहें या बख्शीश कहें! वही गाँधीजी के भाग में आया; यह तो सामान्य बात थी। किन्तु दुर्दैवी इसलिए कहती हूँ कि जीवित रहते समय, उनके चारों तरफ रहने वाले लोगों ने, (जिन्हें स्वातन्त्र्य संग्राम के लिये उनका नेतृत्व चाहिये भी था) उनसे असत्यमय व्यवहार किया, उन्हें धोखा दिया, फंसाया। और देश के स्वातन्त्र्य के लिये उन्होंने वह विषपान किया। अन्तिम दिन तक वे विषपान करते ही रहे।

अतः राजनैतिक संघर्ष हो, आर्थिक लड़ाई हो, या घर में बैठ कर की जाने वाली ईश्वरोपासना हो, योगसाधना-आत्मसाधना हो;—उसके द्वारा हमारे भीतर की मानवता समृद्ध होनी चाहिये। मनुष्य को मनुष्यों के साथ जीने में आनन्द होना चाहिये। सख्यमूलक सहयोगपरायण सहजीवन मनुष्य जाति के लिये शक्य बनना चाहिये। यही हेतु साधना में होना चाहिए।

'चित्त जैसे गंगाजल; वाणी रसाल, रहनी प्राञ्जल।' ऐसा भक्तों का वर्णन है। यदि भजन-पूजन करते हों तो अपनी वैसी दशा होती है या नहीं—यह जाँच-परख कर, भीतर टटोल कर देखना चाहिये। घर-परिवार में भी—बच्चों से, पति से, पत्नी से, अन्य सगे सम्बन्धियों से झूठ बोलना छूटता है या नहीं? या कि 'अरे झूठ बिना व्यवहार चलता ही नहीं'—

कहते हुए झूठ बोलते रहते हैं ! 'मारे-पीटे, क्रोध किये बिना बच्चों को बड़ा किया ही नहीं जा सकता'—ऐसा कहते हैं ? मेरा आशय समझिये !

If we provide sanction to verbal, psychological anger and violence even in our family life, then, how can we hope ever to put an end to violencc and war in the world ?

असत्य, अनृत, अयथार्थ का आश्रय यदि हमें घर में—परम आत्मीयता की इकाई जैसे परिवार में—लेना पड़ता है, तो फिर हम कैसे आशा करें कि इस समाज में सत्यनिष्ठा कभी मूल्य बनेगी ? यदि परिवार में भी हम एक दूसरे पर प्रभुत्व लादते हों, एक-दूसरे का शोषण करते हों, तो कैसे आशा करेंगे कि समाज में से प्रभुत्व, और दबाव (domination) निकाल दे सकेंगे ?....अभी तमिलनाडु की एसेम्बली में कैसी गड़बड़ी हुई ?—विधायकों में लड़ाई-झगड़ा गालीगलौच, और विधानसभा में पुलिस को आना पड़ा। विधानसभा-गृह में लाठीचार्ज हुआ, कितने ही विधायक जख्मी हुए, अस्पताल भेजे गये।—इसे क्या कहा जाय ? संसद और विधानसभा जैसी बैठकों में जूते फेंका जाना, पेपरवेट फेंक कर मारना, कुर्सियाँ उठा कर फेंकना ! इन्होंने तो 'स्पीकर' को ही कुर्सी से खींच उठाया और दूसरे को बैठा दिया। एक साथ तीन विधान सभायें (Parallel) चलीं वहाँ।........

कितनी लज्जाजनक और खेदजनक स्थिति है ? और हम लोग दस बार दोहाई देते हैं ईश्वर को, धर्म की, कथा कीर्तनों में जाते हैं; मन्दिरों जाकर बैठते हैं, रामायण-भागवत के पारायण करते-कराते हैं। और समाज में इतना भ्रष्टाचार है, मानवता व नैतिकता का इतना ह्रास है। हमारा जी क्यों तिलमिलाता नहीं ? कैसे संगति बैठाई जाय इसकी—लाखों मन्दिरों—लाखों साधु-महन्तों-फकीरों और जगह-जगह होते रहने वाले गीता-गायत्री-यज्ञों से ? यह मनुष्य इतना अधःपतित है तो उस साधना से लाभ क्या ? उसका प्रयोजन क्या ?—ऐसा प्रश्न मुझ जैसे के सामने आ खड़ा होता है।

उत्तर में पंजाब सुलगा हुआ है, दक्षिण में तमिलनाडु में धूंआ उठने लगा है, उत्तरपूर्व में गोरखालैण्ड का प्रश्न उभरा हुआ है। और देश का जनसामान्य अपने-अपने में मशगूल है। 'हमें क्या, हमारे तो दिन अच्छे गुजर रहे हैं न ! और क्या चाहिये ?'—अपने अध्यात्म को बड़ो भारी

चुनौती है यह। 'सब का सुख-दुःख प्रारब्ध के अनुसार चलता है। उसमें हम क्या करें? यह सब तो होना ही था!'—८० करोड़ जनसंख्या यदि यही कहती रहे, समाज की सुविधा सब लेना चाहें, पर उसके प्रति अपनी जिम्मेवारी जरा भी अदा न करें। तो क्या होगा देश का? और ऊपर कही बातों का हम बचाव करते हैं—धर्म-अध्यात्म की ढाल लगा कर। इसकी वेदना है। ये मेरे शब्द नहीं, अश्रु हैं। खून के आँसू हैं।

ऐसे में, आत्मबल के सिवा कोई उपाय नहीं। विचार की शक्ति, धनशक्ति, शस्त्रशक्ति, राज्यशक्ति, संगठित धर्मों की शक्ति असफल सिद्ध हो चुकी हैं। इस लिये इस सब आसुरी वातावरण, और आसुरी विकराल विपदा का सामना करने के लिये हमें भीतर से ही दैवी शक्ति जगानी होगी। अशुभ और शुभ हमेशा ही संसार में हैं, रामायण के समय थे, महाभारत के समय थे, आज भी हैं, कल भी रहेंगे। लेकिन जिस समय अशुभ इतना प्रबल हो जाता है कि शुभ को जीने ही नहीं देता, तब सज्जनों को, भक्तों-उपासकों-आत्माराधकों को अपने भीतर से वह आत्म-तेज, अपार्थिव शक्ति जगाना, प्रकट करना चाहिये। भक्ति करनी हो तो ऐसी करनी चाहिये कि—मन्दिर के प्राङ्गण में सबके बीच छत्रपति शिवाजी आकर बैठे हुए हैं, सन्त तुकाराम कीर्तन कर रहे हैं, इसी समय यवनों ने आकर मन्दिर को घेर लिया। पर उनकी हालत कुछ ऐसी हो गयी कि उन्हें सभी लोग शिवाजी ही दिखाई दे रहे हैं। किसको पकड़ें, किसे न पकड़ें—समझ न सके यवन। खाली लौट जाना पड़ा। तुकाराम की भक्ति और शिवाजी की भक्तिनिष्ठा का ऐसा परिणाम था।

भक्ति करनी चाहिये समर्थ रामदास जैसी। शिष्य (शिवाजी महाराज) आकर झोली में भिक्षा डाल रहा है,—एक रुक्के में लिख दिया है कि "सारा राज्य समर्पित है"। वह देखकर रामदास कहते हैं "ठीक है, राज्य मेरा हुआ, इसे चलाओ तुम। प्रतीक रूप में झण्डा भगवा कर दो। राज्य चलाना तुम्हारा धर्म है।" राघोबा पन्त को देहान्त-प्रायश्चित देते हैं न्यायाधीश; इसके लिये आत्मबल की ज़रूरत है; अपना क्या होगा इसकी परवाह नहीं करते वे।

मित्रो! हमें चाहिये वह अध्यात्म, जो भीरुता का, पाखण्ड का, शोषण का अन्त लाये। भजन-पूजन करो, हठयोग की साधना करो, मन्त्र-तन्त्र-जप-अनुष्ठान करो। जिस भी मार्ग से चलना चाहो, चलो! पर उसका परिणाम होना चाहिये नवमानवसर्जन! जो चेतना के नये आयामों

में जीता हो, और वैसा हो नये आयाम के सम्बन्धों वाला समाज हो। (A new man with new dimensions of consciousness & a new society with new dynamics of relationship) यह हमारे भीतर निष्पन्न होना चाहिये। समाजाभिमुख आत्मसाधना, और आत्माधिष्ठित समाजरचना एवं परिवर्तन की प्रक्रिया—अध्यात्म से अपेक्षित है।

●

अनुभूति के साम्राज्य में शब्द तिरोहित होता है।
संज्ञा नामशेष होती है, संकेत विलीन हो जाते हैं।
शब्द के सिर पर 'भूत' का भूत सवार रहता है,
पीठ पर परम्परागत अर्थ का बोझ रहता है,
गोद में संकेत और लक्षणायें छिपी रहती हैं।
विशुद्ध, निर्लेप एवं सर्वथा मुक्त शब्द मिल ही नहीं सकता।
और एक तमाशा है—
शब्द का अर्थ कौन प्रकट करेगा ?
जो अर्थ का साक्षी होगा, वही शायद कर सकेगा।
किन्तु साक्षी तो जीता नहीं है,
पल-पल में अभिनव स्पन्दनों के परिधान पहनने वाले
जीवन-तरङ्गों का मर्म क्या 'साक्षी' समझायेगा ?
स्थितप्रज्ञा के किनारे अलिप्तता से बैठा हुआ—
निरन्तर बहने वाले जीवन का अर्थ कैसे समझेगा ?
जो जीवन से समरस हो गया, वह कैसे बोलेगा ?
बोलने के लिये वहाँ कोई शेष रहे तब तो !
मौन ही निरुपाधिक जीवन की एकमात्र भाषा है।

षष्ठ प्रवचन

दि० ३१-१-८८ सुबह

पिछले ६ दिनों में इतने विषयों पर इतना कुछ बोला जा चुका है कि आज सच देखें तो कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं। मौन में बैठे हुए हुए ही सब परस्पर सब की उपस्थिति का आनन्द लें ऐसा जी चाहता है। पर आप सबकी इच्छा रहती है कि हम कुछ बोलें और आप सुनें। वस्तुतः साथ रहना, सान्निध्य का आनन्द केवल बोलने व सुनने में ही मर्यादित नहीं रहना चाहिये। न बोलते हुए जो बोला जाता है, न कहते हुए हो व्यक्त किया जाता है, जो उपस्थिति में ही अनुभव में आता है, उसे ग्रहण करना, धारण करना,(Communion without Commuication, language existent beyond verbalisation)—यहाँ तक कभी तो मनुष्य को पहुँचना ही पड़ेगा।

हम लोग गति से ग्रस्त हैं। गति से उत्पन्न होने वाले स्पन्दन, संवेदन, उनसे उत्पन्न होने वाला सुख—इसी की हमें आदत पड़ी हुई है। वह गति शरीर की हो या शब्दों की हो, भावनाओं की हो या विचारों की हो; सर्वथा गतिमुक्त जो स्थिति है, जीवन का जो दूसरा अंग है—(The motionlessness of existence) उसमें जो ऐश्वर्य है—वह कभी तो चखना चाहिये। शब्दमुक्त, नादमुक्त शून्य (The content free emptiness of silence) में जो जीवन का ऐश्वर्य है, उसमें जो ऊर्जा है, उसकी ओर कभी तो मनुष्य को मुड़ना होगा।

हम सम्बन्धों में जीते हैं। सम्बन्धों में जीना—यह मनुष्य की मर्यादा है, वह हमारी अनिवार्यता है, क्योंकि मनुष्य मूल से हो सामाजिक प्राणी है। परन्तु इन सम्बन्धों से, या सम्बन्धों के भाव से सर्वथा मुक्त जो एकाकीपन है, एकान्त है (Solitude purged not only of all relationships but even the idea of identity & relation) ऐसे निरुपाधिक होनेपन में जो जीवन का ऐश्वर्य है—वह कभी तो चखना चाहिये।

हमारा जीवन एकाङ्गी है—उस गतिमुक्त स्थिति, ज्ञानमुक्त शून्य मौन, और सम्बन्धमुक्त एकान्त के बिना। इसकी बात कभी हमने सोची नहीं, किसी ने हम से कही नहीं। इसलिये हमें लगता है कि सारा जीवन

गति-शब्द-सम्बन्ध में ही है, इनसे रहित कोई जीवन ही नहीं । कभी केवल प्रयोग करने के लिये ही ५-७ दिन सर्वथा अकेले एकान्त में शब्दों से अलग रहकर देखिये, जहाँ कुछ भी बोलना-सुनना न हो; उस मौन के आयाम का स्पर्श अपनी चेतना को होने दीजिये, ऐसा यदि अनिवार्यतापूर्वक कहा गया होता तो हम में से कितने लोगों ने वैसे शब्दमुक्त रहने का प्रामाणिक प्रयत्न किया होता—यह सवाल ही है ।

अवसर दिया जा सकता है; उसका उपयोग करना या न करना—इसके लिये मनुष्य स्वतन्त्र है । हमने जो सुझाया था, वह किया नहीं गया—इसका कोई विषाद हमारे चित्त पर नहीं है । क्योंकि कोई अधिकार-पद लेकर तो हमारा यहाँ आना हुआ नहीं । किन्तु

"अवसर बेर बेर नहि आवे"
"बढ़त पल-पल, घटत छिन-छिन, जात न लागे वार ।
बिरिछ के ज्यों पात टूटे, पुनि न लागत डार ।
नहि ऐसो जनम बारम्बार ॥"

वृक्ष से जो पत्ते टूट गये वे पुनः जोड़े नहीं जा सकते, वैसे जीवन के जो क्षण बीत गये, वे वापस नहीं लाये जाते । अतः एक बार मिला हुआ अवसर, परिस्थिति के ऐसे सयोग बारबार निर्माण नहीं किये जा सकते । नदी का बह चुका हुआ पानी वापस नहीं लाया जा सकता । हम नदी में हाथ डाले बैठे हों तो भी इस क्षण जो पानी हमारी अञ्जलि में है वही दूसरे क्षण नहीं होता ।

कहना यही है कि जीवन की समग्रता का स्पर्श करना या होने देना—इसमें परतत्त्व का, परमसत्ता का स्पर्श रहता है । जीवन के किसी भी एक अंग में, एक पहलू (aspect) में, और उससे होने वाले सुख में हमारा चित्त भटक जाता है, इसलिये जीवन को समग्रता के स्पर्श से हम वंचित रहते हैं । उसे 'सत्य' कहें; 'परमात्मा' कहें—वही है जीवन की समग्रता । सुख का स्पर्श चाहकर करना और दुःख का स्पर्श करना ही नहीं, और जब जीवन दुःख सामने ला खड़ा करे तब, जैसे बरसात में—प्लास्टिक-रबर के (waterproof) कपड़े पहन कर बाहर निकलते हैं वैसे, दुःख से बचाने वाले विचार (suffering-proof ideas & theories) ओढ़ कर बैठ जाना—यह जीवन नहीं । यश मिले तो आनन्द से फूल जाना और संयोगवश अपयश मिला तो उसके प्रति कटुता पैदा होना—इस तरह हम जीवन में अपने अनुकूल व पसन्द के अंशों से चिपके रहते हैं । १०० में

से ९९ प्रतिशत लोग ऐसे ही हैं। जीवन की समग्रता का स्पर्श होने देना चाहिये, सुख आये, दुःख आये, मान हो, अपमान हो, जन्म हो, मरण हो, संयोग हो, वियोग हो, मिलन हो, विरह हो—सब को बाँह पसार कर गले लगाना चाहिये। मिलन से यदि विरह को जीने की शक्ति पैदा न हुई तो क्या मिलन में से कोई तुष्टि-पुष्टि पायी ही नहीं? संयोग के सुख में से वियोग के दुःख को पचाने की शक्ति आनी चाहिये।

कहना यही है कि सम्पूर्ण जीवन का बिनशर्त समग्र स्वीकार होना चाहिये। जीवन के सामने हम शर्तें तभी रखते हैं, जब उसकी समग्रता के प्रति हमारे चित्त में समादर-सम्मान नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं कि वियोग या मरण प्रिय लगे। परन्तु वियोग, मरण, दुःख, शोक, कष्ट, अपयश, अपमान को अप्रियता को भी जीना आना चाहिये। केवल प्रियता ही जीना आये—यह नहीं। अप्रियता को—अप्रियता रूप में पहचानते हुए ही जीना आना चाहिये। अप्रियता का ऐसा भय और दबाव चित्त पर नहीं रहना चाहिये कि जीवन जिया ही न जा सके। खाना अच्छा न लगे, नींद न आये, कुछ भी सूझे नहीं। चित्त स्तब्ध—ठप पड़ जाय, सारा जगत् तुच्छ जान पड़े!

जगत् कहिये या जीवन कहिये, वह तुच्छ नहीं है। समाज हमने बनाया है। वह अब रहने लायक नहीं रह गया है यह बात अलग है। किन्तु भगवान् की बनाई हुई जो सृष्टि है, यह उनका निर्माण है, यह तुच्छ नहीं, तिरस्करणाय नहीं। इसके स्पन्दनों में ही प्रभुतत्त्व का स्पर्श मिलने वाला है।

दूसरी बात यह कहनी है कि भारत देश में हमारा जन्म हुआ है; हजारों-लाखों वर्षों का इतिहास अपने पीछे है। धर्म-अध्यात्म इस देश के लिये नयी वस्तु नहीं है, यों तो विज्ञान भी नया नहीं है। पर इन पर शतकों की धूल जमी हुई है। ऐसे इस सनातन देश में जन्म पाने वालों को तत्त्वज्ञान, संस्कृति, विज्ञान, भाषाओं, परम्पराओं एवं विभिन्न शास्त्रों की विराट् विरासत मिली है। हमारे पास चार वेद हैं, उनके आरण्यक-उपनिषद् हैं, उनके साररूप षड्दर्शन हैं, गीता है, भागवत है—बहुत-बहुत खजाना है—अपने पास। इस सब में से निर्मित हुए साधनों के अनेकानेक शास्त्राधारित पन्थ हैं, और प्रत्येक साधना-मार्ग की शास्त्रीय मीमांसा, पद्धतियाँ कही गयी हैं, लिखी गयी हैं। उनके भग्नावशेष वर्तमान मन्दिरों—मठों-आश्रमों आदि में दिखाई देते हैं। अब, हमें यदि भगवान्

से मिलना है या आत्मसाक्षात्कार की इच्छा है, अथवा जीवन का अर्थ समझना है, तो हमारे लिये कौन सा मार्ग ठीक होगा ? जो वर्तमान मार्ग हैं, जिनकी विरासत हमें मिली है, और जिनके बारे में शब्दज्ञान कथा-कीर्तनादि से, साहित्य-संगीत से, साधुसन्तों की वाणी से, भजनों से मिला हुआ है। (We have been assimilating little, & absorbing very much)

अपने भीतर पड़ा है सब। उसमें से हमें क्या पकड़ना-अपनाना है, किस पर चलना है इसका विचार शान्त बैठकर करना चाहिये। हमें शक्ति प्रिय है ? भजन-पूजन, विग्रह-सेवा, अपने इष्टविग्रह के पास बैठना, उनसे हृदय की बातें कहना, उन्हीं के पास अपना सर्वस्व उंडेलना, हँसना-रोना, रूठना-मनाना, माँगना—यह हमें रुचता है क्या ? भीतर टटोलकर देख लें। अपने मन को अच्छी तरह समझ लें, उससे संवाद करें। यदि वह रुचता हो तो अपनी भाषा में उस मार्ग का साहित्य, वाङ्मय इकट्ठा करें।

एकदम उठकर चारों तरफ खोजने नहीं निकल पड़ना कि—"कहाँ कौन आत्मानुभवी सन्त हैं ? कौन भक्त हैं ? उनसे जाकर पूछ लूँ कि मेरे लिये कौन सा मार्ग उचित होगा।" पहले अपने भीतर झाँक कर अपनी प्रकृति का निरीक्षण-परीक्षण करें। फिर अपनी समझ के अनुसार पुरुषार्थ करें। पुरुषार्थ की भूपराकाष्ठा के सिवा प्रार्थना की भूमिका हृदय में बनती नहीं। पुरुषार्थ के बिना ही की गयी प्रार्थना, और प्रयत्न के बिना किये गये प्रणाम में से कुछ निपजता नहीं। क्योंकि उसमें वेग (dynamism) नहीं आता। बुद्धि के चिन्तन की पराकाष्ठा के सिवा,—जहाँ तक बुद्धि जा सकती है वहाँ तक उसे ले जाने का श्रम किये बिना श्रद्धा का जन्म नहीं होता।

इसलिये हम अपनी प्रकृति के अनुसार शक्तिभर प्रयत्न करें। अपनी रुचि के अनुकूल पथ की पुस्तकें इकट्ठी करें, अध्ययन करें, प्रतिदिन कुछ समय निश्चित रूप से सतत इसमें दें। "कहीं किसी के पास जायेंगे, उनसे पूछ लेंगे कि हमें क्या करना चाहिये, फिर उनके कहने के अनुसार करेंगे"—यह सोचने में स्वयं अपने शारीरिक-मानसिक-बौद्धिक प्रयत्न व परिश्रम से भागने की वृत्ति है। अरे, जीवन ने हमें इन्द्रिय-मन-बुद्धि-हृदय दिये हैं, जैसे भी हों, इनका पूरा उपयोग तो करें ! सबको तो भीम जैसा शरीर, अर्जुन जैसी कुशलता, शंकराचार्य जैसी बुद्धि और गौतम बुद्ध जैसा हृदय

तो मिलेगा नहीं। हम सामान्य मनुष्य हैं। अपनी सामान्यता के ऐश्वर्य को लाञ्छित-लज्जित न करें। इस सामान्यता में भी बहुत शक्ति भरी होती है।

अतः मन में आया कि भक्तिमार्ग पकड़ना है, तो एक दम कोई गुरु खोजने न चल पड़ें। सीखने का प्रयत्न हम करते रहें, अपना सीखना जहाँ कुण्ठित होगा वहाँ गुरु स्वयं हमारा द्वार खोजते आयेंगे। या तो उनके द्वार तक जीवन हमें ले जायेगा। जीवन एक विराट् चक्र है। यह जीवनचक्र प्रज्ञास्फूर्त है। ज्ञानस्वरूपिणी-द्रष्टृत्वधारिणी सत्ता या ऊर्जा से यह विराट् विश्वव्यापार चलता है, इसमें एक व्यवस्था है (There is an order, an intelligence involved & manifested by the Cosmic life.) उसका भरोसा न रखकर, पहले ही मार्गदर्शक खोजने निकल पड़ने का अर्थ है पुरुषार्थ के परिश्रम से पलायन की वृत्ति। अपने को दीन-हीन मान लेते हैं, 'हमसे तो कुछ होगा नहीं; हम सामान्य है, और कोई असामान्य है, वह ज्ञान देगा, वह साधना करवा लेगा'....। जिज्ञासा के जन्म के साथ ही 'प्रामाण्य' का जन्म न होने दें ! व्यक्ति-प्रामाण्य, ग्रन्थ-प्रामाण्य, परम्परा-प्रामाण्य की शृंखला है। एक बार इस चक्रव्यूह में फँस जायें तो अभिमन्यु जैसी दशा हो जाती है।

पहले स्वयं सीखने के प्रयत्न में लगें। ग्रन्थों से सीखें, जो कुछ पहले से सुना-समझा भीतर से उगे उसका प्रयोग कर देखें। भीतरी दशा सीखने के लायक हो तब संयोग बन पड़े तो सत्सङ्ग भी करें। परन्तु वही साधना का प्रारम्भ-बिन्दु नहीं, इतना मुझे कहना है। सन्तों के जीवन-चरित्र, वाणी पढ़ें। रोज के २४ घण्टों में आप आजीविका के लिये, परिवार के लिये, भोजनादि के लिये, निद्रा के लिये, मित्रों में गपशप के लिये समय निकालते हैं, तो सचमुच यदि परतत्त्वस्पर्श की, जीवनविभु के स्पर्श की छटपटाहट भीतर हो, उत्कट अभीप्सा हो, तो क्या उसके लिये समय नहीं निकलेगा ? नौकरी-धन्धे व दुनिया के हजार कामों के नाम पर यदि आपको अपनी अभीप्सा की पुष्टि के लिये समय नहीं मिल पाता है तो क्या कोई बना-बनाया—तुरत घुलनशील 'ध्यान-समाधि' का नुस्खा आप चाहते हैं ? इस भ्रम में न रहें।

ज्ञानमार्ग की रुचि हो तो उसके अनुरूप ग्रन्थ पढ़ें,। इस देश में ऐसे भी ग्रन्थ उपलब्ध हैं जो किसी भी धर्म-सम्प्रदाय से बँधे नहीं।....प्रतिदिन कम से कम एक डेढ़ घण्टे का अलग समय अपने लिये अवश्य निकालें।

नहीं तो, अपनी गति, मुक्ति स्थिति एवं निपट अपने आप को देखने-परखने-समझने का मौका कभी नहीं आयेगा। शब्दों के पसारे में लिपटा हुआ जो मन है उसे कभी शब्दमुक्त-नादमुक्त 'शून्य' में स्नान करने, तरोताजा होने का अवसर तो दें !

वस्तुतः वह जीवन का विशुद्ध 'होनापन' है, उसे 'स्थिति' कहते है गणित की अपेक्षा से, 'शून्य' कहते है—ध्वनि-नाद-शब्द की अपेक्षा से, क्योंकि इन्हीं से अब तक हम परिचित हैं, और वह 'होनापन' किसी भी शब्द या अभिव्यक्ति से परे है। उस 'सत्ता' या 'होनेपन' के स्पर्श की अभीप्सा है—उसके बिना जीवन में स्वाद नहीं आ रहा—धन है, परिवार है, यश प्रतिष्ठा है—पर सब फीके लगते हैं। सारे पार्थिव पसारे में कुछ कमी लगती है, कुछ अभाव सालता है। इसी का नाम जिज्ञासा है, भक्ति की इच्छा है।

'पलभर नहीं विभक्त, वही कहलाता भक्त' इस दशा की अभीप्सा है, तो उस सत्ता को देखने छूने का प्रयत्न करने के लिये कुछ समय नहीं निकाल पायेंगे ?

अतः पहला संकल्प होगा—सद्वासना, उत्कट इच्छा-'काम' होगा कि सत्ता-संस्पर्श के लिये समय निकालेंगे। उस डेढ़-दो घण्टे में आप निपट अपने साथ होंगे। इसे साधना कहें, भक्ति कहें, स्वशिक्षण कहें, ध्यान कहें, ज्ञानलाभ कहें—जो भी संज्ञा दें, उसके लिये वह समय सुरक्षित रखेंगे। और, घर का कोई एक कोना, एकान्त स्थान उस समय के लिये पृथक् सुरक्षित रखेंगे। घर में होने वाले सब कार्यों के लिये कोई न कोई स्थान है तो आपके अपने लिये कोई जगह नहीं निकलेगी क्या ? जहां कोई गपशप के लिये न बैठे, इधर-उधर की बातें व हलचल न हो। वहाँ बैठ कर आप भजन गायेंगे, सुनेंगे, पुस्तकें पढ़ेंगे, मौन बैठेंगे।....

किसी भी मार्ग से प्रारम्भ करें, सभी मार्ग अन्त में एक ही जगह ले जाने वाले हैं—यदि सम्पूर्ण प्रयत्न प्रामाणिकता, गम्भीरता से करते हुए आप सतत चलते रहें। प्रयत्न में सातत्य अनिवार्य है। सभी मार्ग अहङ्कारमुक्ति, शब्दमुक्ति व गतिमुक्ति या विसर्जन में परिणत होंगे। ऐसा न हो तो या तो वह मार्ग नहीं, या फिर उस पर चलने वाला नहीं है।

मनुष्य के जीवन का तीसरा हिस्सा तो नींद में निकल जाता है, पहले आठ-दस वर्ष खेलने में जाते हैं। अन्तिम दस-पन्द्रह वर्ष वृद्धावस्था की

जरूरतों में जाते हैं। बाकी जीवन का भी बहुत सा हिस्सा दुनियादारी में जाता ही है। इसलिये जिज्ञासा उदित होने पर पक्का संकल्प होना चाहिये कि इतना समय तो उसके लिये देंगे ही। उसके सिवा जितना और मिल सके वह अच्छा ही है। पर नियत समय में से कटौती नहीं करेंगे। उसमें बहाने नहीं निकालेंगे कि आज सिर दुखता था, कल मेहमान आये थे। परसों देर हो गयी थी। मन तो हजार बहाने पैदा कर लेगा, क्योंकि चुप बैठना उसे पसन्द नहीं। यों तो ज्वर आने पर भी जितना बन पड़े उतना दुनिया का काम हम करते ही हैं, क्योंकि वहाँ अनिवार्यता है, और उस काम का फल सामने दिखता है। भगवान् या परतत्त्व तो आँखों से दिखता नहीं।····पर अध्यात्म में अनिवार्यता नहीं है। (Divinity is manifestive entity, but it is not something assertive & aggressive) दिव्यता उपलब्ध रहती है, उपस्थित रहती है। जिस तरह प्रेम आक्रमण नहीं करता, उसी तरह अध्यात्म, परमात्मा आक्रामक नहीं है।—

'उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।' वह केवल उपद्रष्टा (समीप से देखने वाला) है; आप उनकी ओर देखने लगें तो अनुमन्ता भी बनता है, आप उनका स्वीकार करें तो भर्ता भी बनता है। और आपका उनसे प्रेम हो जाये तो आपके जीवन का भोक्ता भी वे बनते हैं—ऐसा धर्म है हमारे महेश्वर का।

इसलिये संकल्प करके समय निकालें, और स्थान निश्चित कर लें, कि इस जगह में दूसरा कोई व्यवहार या क्रियाकलाप नहीं होगा। वह जगह स्वच्छ रखें, अपने बैठने के लिये सुखद आसन बना लें, जिस पर अधिक से अधिक समय तक बिना कठिनाई के बैठ सकें। आपको वहाँ कुछ जप-तप करना है या ध्यान में बैठना है तो उससे पहले सर्वांग व्यायाम कुछ योगासन कर लें। ८०-८४ आसन करने की जरूरत नहीं, कुछ थोड़े से ७-८ आसन कर लें—उत्तानपाद, शलभ, सर्वांगासन, हलासन, धनुरासन, दक्षिण-पश्चिमोत्तान आदि। १० मिनिट प्राणायाम कर लें। सर्वांग को व्यायाम मिल गया, प्राणायाम से रक्त में जीवनवायु का सञ्चार व शुद्धि (Oxydisation of blood) हो गया; तब बैठने से, संसार में शरीर-मन पर जो आघात-प्रत्याघात हुए होंगे, उनसे शरीर मुक्त हो जायेगा। १५-२० मिनिट में आसन-प्राणायाम से यह हो सकता है। पर उससे एक ताजगी एवं सर्वांग में तत्परता आ जायेगी, उसका

आनन्द कुछ अलग ही है, वह करके देखने से ही मालूम पड़ सकता है। शब्दों में कहा नहीं जा सकता। ऐसे १५-२० मिनिट में तरोताजा होकर अपने आसन पर बैठें।

यदि संकल्प-पूर्वक प्रभुत्व का वरण करना हो, और अपनी विरासत की सत्यता पर श्रद्धा रखनी हो तो इसे हम उम्र भर के लिये अपनी दिन-चर्या का अंग बना लें। उसे सातत्य से करें। यदि जिज्ञासा में उत्कटता हो जिज्ञासा केवल बौद्धिक विलास या महत्त्वाकांक्षा-मात्र न हो, अध्यात्म पथ की ओर मुड़ना यदि केवल भावनात्मक आवेग से न आया हो; समझ-बूझ कर हम इस तरफ आये हों, तो उसमें सातत्य रहेगा। श्री कृष्णमूर्ति जी बहुत बार अपने श्रोताओं को पूछा करते थे—'Sir; are you really serious about it !' (क्या सचमुच आप गम्भीरता से इसे देखते हैं, वस्तुतः इधर आना चाहते हैं ?) लोगों को लगता है कि हम इतना धन खर्च करके यहाँ आते हैं तो क्या व्यर्थ ही ! J. K. कहते—'Sustained seriouness Sir ! Sustained integrity, sincerity of purpose', जो टिकी रहे ऐसी गम्भीरता है क्या ? क्योंकि इस मार्ग की ओर लगने से पहले की अपनी जो मन की दशा है—प्रामाणिकता, स्थिरता, गम्भीरता, उसमें से परिणाम शुभ ही आयेगा,। लेकिन वह यदि न हो, केवल कौतूहल हो, तो चार-दिन यह करके देखा फिर चले दूसरे किसी तरफ ! उसमें भी टिक न सके तो चले तीसरे की ओर। ऐसे तो हम उम्र भर करते रहे तो एक भी कूँआ खोद नहीं पायेंगे, दस जगह थोड़ा-थोड़ा गड्ढा खोदने से कूंआ नहीं बनता। गम्भीरता और सातत्य कोई दूसरा हमें नहीं दे सकता, वह तो अपने भीतर ही होना चाहिये। इसलिये, समय देने की गम्भीरता और सातत्य दोनों चाहिये।

आप वहाँ बैठकर मन्त्र जप करें, भजन गायें, मौन में बैठें या पुस्तक पढ़ें, पर समूचे आप वहाँ ही रहें, यह नहीं कि बैठे वहाँ हैं और मन भटक रहा है घर के दूसरे स्थानों और कामों की तरफ। शर्त इतनी ही है कि वहाँ आप सम्पूर्ण रूप से उपस्थित रहें। (You must be totally present there) दूसरा कुछ भी विचार तब आपके और प्रभुसत्ता के बीच में न रहे।

आपने सुना-पढ़ा होगा श्री रामकृष्ण परमहंस की जीवनी में, कि मथुर बाबू ने एक बार रानी रासमणि को बताया कि नये पुजारी छोटे भट्टाचार्य बहुत सुन्दर पूजा करते है। उनका पूजा करते समय का भाव,

पद्धति, वातावरण अलौकिक होता है। वे भी एक दिन आयीं पूजा देखने। गर्भगृह में, पास हो बैठो थीं, पूजा चल रही थो। इसो बीच एकाएक रामकृष्णदेव ने हाथ उठाया और कस के थप्पड़ लगा दिया रानी के गाल पर। पीछे ही बैठे थे मथुर बाबू। चकित हो गये कि यह गरीब ब्राह्मण लड़का, जिसके आश्रय में पुजारी की नौकरी करने आया है उन्हीं पर हाथ उठाता है ? उधर छोटे भट्टाचार्य ने मार कर कहा—'यहाँ बैठकर भी कोर्ट-कचहरी का विचार करती हो ?' (अपना सद्भाग्य है कि ऐसे थप्पड़ लगाने वाला कोई प्रकट सामने नहीं है। नहीं तो अनगिनत बार मार खानी पड़ती ! पर अपने में वैसी नम्रता भी नहीं है।) जब मथुर बाबू और मन्दिर के अधिकारी अन्य लोग आकर छोटे भट्टाचार्य को पकड़ने लगे, तब रानी सबको रोकते हुए बोलीं—'नहीं, उन्होंने जो किया व कहा वह ठीक ही है। मेरा मन कचहरी में चल रहे मामले की ओर चला गया था।'

अपना तो हमेशा ऐसा होता है। मन्दिर या पूजास्थान में आकर विग्रह के पास बैठे—जप-पूजा करते समय भी जरूरी नहीं कि पूरा मन उसी में हो, प्रभु चिन्तन में थोड़ा समय भी एकाग्र ठहरता नहीं। उनकी सत्यता देखने की इच्छा है, उनका अनुग्रह पाने की अभिलाषा है, पर २४ घण्टों में से एक घण्टा भी पूरा स्थिर नहीं हो पाता उनमें। मनको स्थिरता का शिक्षण देने के लिये ही यह नियत समय सातत्य-पूर्वक उस स्थान पर बैठना चाहिये।

लोग कहते हैं कि यह समय व स्थान का बन्धन किसलिये ? जब और जहाँ अच्छा लगे वहाँ और तब बैठकर प्रभुचिन्तन क्यों न किया जाय ? तो—यह बन्धन है आपके शरीर-मन में एक अनुशासन एवं व्यवस्थितता, नियमितता लाने के लिये। उसे एक लय में चलाना—सातत्य सिखाना पड़ता है। यह कोई क्रियाकाण्ड नहीं है।

अतः गम्भीरता एवं सातत्यपूर्वक वहाँ बैठें। जितना समय निश्चित किया हो उसमें किसी भी कारण कटौती न करे, २० मिनिट के १८ मिनिट भी न करें। चाहे कुछ भी हो जाय, उस समय में वहाँ से हिलें नहीं। 'देहं वा पातयामि कार्यं वा साधयामि' ऐसे दृढ़ निश्चय से सिद्धार्थ जाकर बोधिवृक्ष-तले बैठ गये थे। तब वे 'बुद्ध' बने।

वहाँ बैठना भी बेगार टालने जैसा बेमन से या जबर्दस्ती के भाव से नहीं होना चाहिये। पूरे विश्रान्तभाव से वहाँ बैठकर आप जो भी करते

हों, उसमें आनन्द आता हो, तभी उस बैठने का परिणाम भीतर होगा—ओर जो घटित होना है वह हो सकेगा। अन्यथा नहीं।

(Nothing can happen if you are not completely relaxed. Relaxation is the gateway of Joy.)

पहले थोड़ी ऊब भी लग सकती है, पर चार-छ महीने लगातार बैठ कर तो देखिये ! धीरे-धीरे उसमें आनन्द भी आने लगेगा। चार दिन किया, छोड़ दिया, फिर दस दिन किया और छोड़ दिया—ऐसे बीच-बीच में छोड़ते रहे तो कुछ भी घटित नहीं होगा--क्योंकि आप शरीर-मन को मौका ही नहीं दे रहे हैं। You have to give yourselves an opportunity that it happens.

इस तरह सातत्यपूर्वक बैठ कर आप अपनी प्रकृति के अनुसार प्रयत्न करने लगेंगे तो कुछ समय बाद भीतर कुछ परिवर्तन घटित होने लगेगा; जैसे इन्द्रियों को उनका विषय मिलने पर भीतर कुछ होने लगता है। सांसारिक विषयों के खूंटे से चेतना अलग पड़ने लगेगी।

आप स्थिर होंगे तो बाहर शरीरमन से होने वाली क्रियायें और उन क्रियाओं के परिणाम शान्त पड़ने लगते हैं। तब भीतर जो कुछ उथल-पुथल या घटनायें घटित होने लगती है, उसे ही लोग "अनुभव-अनुभूति" कहते हैं। बाहर का नाद सुनना छूटा, बाहर का रूप देखना छूटा, तो भीतर का नाद, भीतर का रूप, भीतर का प्रकाश दिखने लगता है। है वह भी पार्थिव। किन्तु एक स्थूल है दूसरा सूक्ष्म, एक इन्द्रियों के माध्यम से होता है, दूसरी निरिन्द्रिय घटना है। वह विषयों (objects) के स्पर्श से रहित है। वहाँ आप ही विषय हैं, आप ही विषयी (subject)। आप ही घटना का स्थान हैं, आप ही घटना का माध्यम और आप ही घटक। "आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।" ऐसी परिस्थिति वहाँ होती है। इन घटनाओं को, इन की प्रतीति को ही आप "अनुभूति" कहते हैं।

यदि मनुष्य प्रामाणिक है तो यह होने ही वाला है। प्रामाणिकता से सन्तों की वाणी का अध्ययन करते हों, जो समझ में आया उसका आचरण करते हों, और दृढ़ संकल्प का वरण किये हुए अपने नियम में अडिग रहते हों तो उस वाणी का प्रभाव होकर रहेगा। ज्ञानेश्वर-तुकाराम-एकनाथ-नामदेव-जनाबाई-नरसी भगत-सूर-तुलसी-मीरा-कबीर-आण्डाल, त्याग-

राज-पुरन्दरदास-लल्ला-वृन्दावन के अष्टछाप भक्तगण—आदि की वाणी में स्नान करें और गात्र पुलकित न हों, सात्त्विक भाव न उमड़ें, अश्रुओं से अन्तस् प्रक्षालित व पावन न हो जाय ??—यह कैसे ? भीतर ही भीतर हृदय-मन पिघल न जाय ? वह मनुष्य कैसा ?

""किन्तु इस क्षण ऐसा कुछ हुआ कि बाहर आकर वह बताने लगे—ऐसा न करें। घर में कोई नयी वस्तु लाते हैं और घर के सबको तथा पड़ोसियों को दिखाते हैं—इस तरह भीतर की इन पावन घटनाओं का वर्णन करते फिरने की जरूरत नहीं। वह कोई प्रदर्शन की वस्तु नहीं है। वह तो अन्तरङ्ग पवित्र घटना है; आप का "ब्रह्म-अभिसार" शुरू हुआ, उसका संकेत है वह। उसका आनन्द अपने भीतर ही रहने दें, धारण करें। धरती में डाला बीज भीग कर और धरणी-गर्भ की ऊष्मा पाकर फूला हो, अंकुर फूटने की तैयारी हो—ऐसे समय उसे बाहर निकाल कर उलट-पलट कर छूने-देखने-दिखाने लगें तो तब तक का विकास व्यर्थ जायेगा, वह अंकुर बन नहीं पायेगा। इसी तरह अपने भीतर कुछ घटित होने लगे तो कुतूहल से भर कर अन्यों से उसका बयान न करते फिरें, उसका अर्थ पूछने-समझने की भी चपलता न करें। बहुत हो तो अपनी एक दैनन्दिनी रखें, उसमें तारीख व समय-सहित वे घटनायें लिख रखें।

आप ध्यानमार्ग में चले हों, और शून्य तक पहुँचे हों तो, शून्य के प्रथम स्पर्श से नाड़ीतन्त्र को, ज्ञानतन्तुओं को धक्के लगते हैं। उन धक्कों के कारण अनेक प्रकार के नाद सुनाई दे सकते हैं, प्रकाश व रंग दिख सकते हैं। ऐसा न हो तो एक प्रकार का प्रक्षोभ उत्पन्न हो सकता है। कभी शरीर में उष्णता बढ़ेगी, कभी अतिशय थकान लगेगी, कभी भ्रूमध्य में तनाव महसूस होगा, तो कभी नाभि में तनाव या क्षोभ होगा। यह सब होने देने के लिये तो आप बैठे ही हैं! उसे समस्या या बीमारी न मानें, उससे चिन्तित न हों। A new movement, a new motion has been set in the orbit of your being. इतना ही उसका अर्थ है।

अतः ऐसी घटनाओं का 'अवास्तविक स्तोत्र' भी न करें, दस लोगों से कहते न फिरें, और उसे समस्या भी न बनायें। बस उसे देखते चलें, और लिख रखें। जैसे कि आप योगासन-प्राणायाम करते हैं, भस्त्रिका प्राणायाम करते हैं, तो उसके बाद तुरन्त जाकर दौड़-भाग कर काम नहीं कर सकेंगे। You create a chemical situation in your body. (आप ने भीतर एक अलग रासायनिक स्थिति पैदा की है) उसे शान्त

होने देना पड़ेगा। इसीलिये योगासन-प्राणायाम के बाद थोड़ी देर शवासन में रहने को कहा जाता है। क्योंकि आपने शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को तथा श्वसनतन्त्र को जो विशिष्ट व अधिक तनाव-खिचाव-श्रम दिया है, उसके बाद उसे शान्त होकर सामान्य स्थिति में आने का मौका देना चाहिये। क्या करना है यह शरीर स्वयं देख लेगा। इसी प्रकार आधा-पौन घण्टा ध्यान में बैठना भी प्रामाणिकता से सातत्यपूर्वक होता रहे, और कभी कुछ चैतसिक घटना या अन्तःरासायनिक घटना दिखे तो उसे चुपचाप देखते रहें, कोई प्रतिक्रिया न करें, और २०-३० मिनिट शान्त बैठे या लेटे रहें, उसे लिख रखें, फिर शान्ति से अपने दैनिक कार्य में लग जायें। बाहर आकर उसकी चर्चा न करें। नहीं तो, एक तो वह घटना धारण एवं हजम नहीं होगी, दूसरे अन्य लोग उसके तरह-तरह के अर्थघटन करेंगे, आप चक्कर में पड़ जायेंगे। यों भी विभिन्न साधनामार्गों में अनेक शब्दों के अलग-अलग अर्थ और सन्दर्भ होते हैं, उनके पीछे शास्त्र होते हैं। उस प्रपञ्च में आप क्यों पड़ें ? फिर एक मार्ग से जाने वाले को जो अनुभव आते हैं वे दूसरे मार्ग के पथिक को नहीं आते। ज्ञानमार्ग के व्यक्ति को ये नाद-सुनना, प्रकाश दिखना आदि अनुभव नहीं भी आते। शब्दों से वह जानता है, जान कर बुद्धि व अन्तःप्रज्ञा से समझता है, फिर जो समझा गया उसे जीने लगता है। (verbal information, intellectual understanding, digesting that understanding, arriving at awareness, then living that awareness.) उसे क्यों यह सगुण साक्षात्कार, नाद, प्रकाश आदि के अनुभव आयेंगे ? आप यह न चाहें कि एक मार्ग से चलें तो दूसरे मार्गों के भी अनुभव आप को मिलने चाहियें। आप दक्षिण की ओर जा रहे हों तो उत्तर या पूर्व की ओर जाने वालों के रास्ते के दृश्य आप को कैसे दिखेंगे ? ...अपने देश में हजारों ग्रन्थ और सैंकड़ों पन्थों के साधु-महात्मा हैं--उनकी वाणी सुनने में आती है, इसलिये सब तरफ का प्रलोभन जागता है, किसी एक पथ पर टिक कर नहीं रहा जाता। किसी के भी सिरे तक पहुँचते नहीं, और कुछ इस का, कुछ उसका लेते हुए भटकते रहते हैं। साधना केवल शब्दज्ञान बटोरने से नहीं होती। (You can have a sorted, collected knowledge) वह आप बौद्धिक शैक्षणिक स्तर पर कर सकते हैं, लेकिन जब आप किसी साधनापथ पर चलना आरम्भ करें, तब वह केवल बौद्धिक लगाव (Intellectual involvement) नहीं है, You are involving your whole metabolism; not just playing around it. You can not be casual about it.

इसलिये मैं कहती हूँ कि आप किसी एक मार्ग से साधना प्रारम्भ करें, तब तरह-तरह के ग्रन्थ पढ़ते और अलग-अलग पथ के व्यक्तियों से अनुभवों की चर्चा करते हुए सब बातों की तुलना करते न फिरें, फिर उस सब के बीच अपने को जोड़ कर व्यर्थ परेशान न हों—कि "अमुक को इतने व वैसे अनुभव आते हैं, इतने थोड़े समय में ही आने लगे; मुझे तो वैसा कुछ नहीं होता"—इत्यादि। (At least have a non-comparative approach in enquiry.) बाकी तो सारे जीवन में तुलना चलती ही है, पर कम से कम यहाँ तुलना के पचड़े में न पड़ें।

और एक बात, आप जो कुछ भी करते हों, उस के परिणाम की महत्त्वाकांक्षायें न खड़ी करें; साधना द्वारा 'कुछ बनने' के सपने न देखें। "मैं तो अब योगी बन रहा हूँ, त्यागी-यति-तपस्वी बनूंगा·····"—ऐसे 'बनने' के मोह में न पड़ें। साधना तो 'होने' का पथ है, कुछ बनने की प्रक्रिया नहीं।

It is the process of becoming, whether you apply it to enquiry or apply to your social life, that creates misery & suffering. You do it (meditation, sitting in silence etc.) for your learning; you do it for your understanding.

स्वयं कुछ सीखने-समझने के लिये, सत्यशोधन के लिये आप बैठते हैं, साधना कर रहे हैं। उस से अमुक कुछ बनने की चाह क्यों? किसी के 'जैसा' आप क्यों बनेंगे? वे सर्वथा आदर्श-पूज्य पात्र—पार्वती, सीता या राम-कृष्ण ही क्यों न हों। किसी के भी सदृश बनने की कोशिश न कीजिये; आप जो हैं, वही पूरी तरह रहिये। आप के भीतर जो सम्भावनायें पड़ी हैं उन्हें खिलने का अवसर दीजिये। किसी का अनुसरण-अनुकरण तो आप की 'आत्महत्या' है—यह समझिये। अपना गला न दबाइये।···· अध्यात्म का सम्बन्ध, भक्ति का सम्बन्ध समझने से है; जितना समझें उतना जीते चलिये। समझ द्वारा जीवन समृद्ध होने दीजिये, जीवन द्वारा समझ को दृढ़ व समृद्ध होने दीजिये। जहाँ काम अटकेगा वहाँ—वह जो सहस्रशीर्ष, सहस्रनयन, सहस्रबाहु, विश्वात्मा है, वह आपको आगे ले जाने, ठोकर खा कर गिरे हों तो हाथ पकड़ कर उठाने—आये बिना नहीं रहेंगे, आपको सम्हाले बिना न रहेंगे।

"सकल जगत् की रखते सम्हाल वे, तुझे छोड़ देंगे, ऐसे नहीं।"

"विश्वम्भर को सब की चिन्ता, तू काहे चिन्ता करे ?
भरी दुपहरी सूर्य देखने (को) पागल घर में दीप करे।"

इसलिये, तुलना-आकांक्षा-कुछ बनने का चाव—इस सब को साधना-कक्ष से बाहर ही रखिये।

एक सामान्य मध्यम वर्ग के कुटुम्ब में—जिन्हें आप विमला बहन कहते हैं उनका—जन्म हुआ। 'कमाओ और पढ़ो' (Earn & learn) करते-करते अध्ययन हुआ। उन की बुद्धि व समझ में जो-जो आता गया वह करती गयीं। उन के जीवन को देखते हुए मुझे ऐसा लगता है, और वही मैं आप को कहती हूँ कि जब प्रामाणिक प्रयत्न की पराकाष्ठा आती है; सचमुच आप हाँफ जाते हैं, थक कर चूर हो जाते हैं, तब कोई न कोई आ कर आप को मदद अवश्य करता है।

इस का कोई हिसाब नहीं बैठाया जा सकता कि कब कौन कहाँ से कैसे चला आयेगा, किन्तु मदद हुए बिना रहती नहीं।....कभी सन्त तुकड़ोजी महाराज आ खड़े हुए, कहीं मण्डला के योगीराज श्री सीताराम दास आ पहुँचे, तो कभी माँ आनन्दमयी ने हाथ पकड़ कर दिशा दिखा दी। कभी गोपीनाथ कविराज, कभी विनोबा, कहीं कृष्णमूर्त्ति जी। बिल्कुल रोकड़ प्रत्यक्ष जीवन की बात आप को कह रही हूँ। अपनी बुद्धि से यह सब घटित नहीं हुआ।

यह सब ईश्वर की देन है, सन्तों एवं गुरुजनों की देन है। सब जुटते गये। पर कल्पना से परे की बात है यह सन्तजनों का मिलते जाना। (स्वयं अभ्यास व अध्ययन के लिये जो मैं प्रत्येक विभिन्न सम्प्रदायों के आश्रमों में घूमी हूँ—वह अलग बात है।) पर इन सच्चे सन्तों के मिलने में मेरा कोई पुरुषार्थ नहीं, वह ईश्वर की देन है। अपनी एक ही बात थी कि जिज्ञासा प्रामाणिक थी। और कुछ भी नहीं। आप के समान ही मैं एक अदना, सामान्य व्यक्ति हूँ। कोई बहुत सुविधा-सम्पन्न विशेष जीवन (privilaged life) मेरा नहीं रहा। और वह सामान्यता समाधि अवस्था में भी छूटी नहीं, इस सामान्यता का ऐश्वर्य महान् है। असामान्यों में मानवता कम दिखाई देती है, सामान्यों में अधिक होती है।

"भीतर शाश्वत पहचानें, अलौकिक न बनें लोगों के प्रति"

"हमें ज्ञान, आत्मबोध हो गया है" "हमें समाधि सिद्ध हो गयी है" "हम कुछ विशिष्ट हैं" "हम औरों को बहुत कुछ सिखा सकते हैं"—इस अभिमान के लिये भक्ति या अध्यात्म नहीं है।

It is not a process of becoming. It is melting away of the process of becoming. It is getting reduced to a marvellous nothingness & nobodyness. Just an expression of life; like any other expression,—trees & flowers, earth & rivers.

इसे सहजता कहते हैं।

"आँख न मूँदौं कान न रूँधौं तनिक कष्ट नहि धारौं।
खुले नयन सों हँसि हँसि देखौं सुन्दर रूप निहारौं।
साधो सहज समाधि भली !"

वह अध्यात्म की परिणति है। सभी विशिष्टताओं का लोप होने दीजिये। नई विशिष्टता कमानी नहीं है। साधुत्व, संन्यास, योगावस्था— ये सब जीने के लिये हैं; दिखाने के लिये या व्यापार के लिये नहीं !

और एक बात का ख्याल रखें कि आप के साधना में बैठने से, उस में आने वाले उपसर्गों से, किन्हीं घटनाओं या 'अनुभवों' से परिवार वालों को परेशानी न होने पाये। हमारे बचपन में हमारी एक नानी-दादी कभी-कभी घर आती थीं। उन का दो-तीन घण्टे रोज़ का पूजापाठ-कार्यक्रम चलता था। पर वे आयें कि हम सब बच्चों की तो समझिये शामत ही आ जाती थी। बड़ा आतङ्क रहता था—उन के कमरे की तरफ जाना नहीं, आपस में जोर से बोलना नहीं, वे भोजन करने बैठी हों तो किसी की आवाज़ उन तक नहीं जानी चाहिये। वे पूजा कर रही हों उस बीच किसी कारण हम लोगों पर उन्हें गुस्सा आ गया कि चन्दन घिसते-घिसते वह चकला या बटिया ही उठा कर हमारी तरफ ताने आयेंगी। अत्यधिक क्रोध करतीं। और मुझे लगता कि भगवान् की पूजा में बैठने पर भी इतना क्रोध आता कैसे है ? अभी तो भजन गा रही थीं, मन्त्र बोल रही थीं, तो एक ही क्षण में उसी मुख से ये अपशब्द कैसे निकलने लगे ? और देवपूजा से उठने पर भी क्रोध कैसे बना रहता है ?—कुछ समझ में नहीं आता था; हँसी आती, आश्चर्य होता !

कहना यही है कि साधना को उपाधि न बनायें, उस का "हौआ" न खड़ा करें। विच्छिन्न व्यक्तित्व (split-personality) न बने।

मैंने कई बार बताया है दादा धर्माधिकारी का एक प्रसंग। विनोबा जी की भक्ति एवं आध्यात्मिकता तो सब जानते ही हैं, दादा ने भी प्रस्थानत्रयी का अध्ययन किया ही था। अपने जीवन में प्रायः २५ वर्ष तक ज्ञानेश्वरी पाठ के बिना वे भोजन नहीं करते थे, पर बाहर जीवन में

दादा का परिचय सर्वोदय के वरिष्ठ नेता-वक्ता के रूप में ही था। एक बार, संविधान बनते समय, दिल्ली में उनके लड़के और मैं, हम सब दादा के साथ रहे। एक बार रात में दो बजे मेरी नींद खुली तब देखा कि दादा बिस्तर पर बैठे हैं और हाथ में जप-माला है। मुझे कल्पना भी नहीं थी कि दादा भी जप करते हैं, साथ में माला रखते हैं। क्योंकि दादा बहुधा कहा करते कि "मेरी कहाँ भगवान् पर श्रद्धा है? मैं कहाँ उन का नाम रटता हूँ?"....इत्यादि। सुबह उठ कर मैंने दादा से पूछा—"आप रात में जप कर रहे थे?" बोले "हाँ!" मैंने कहा—"आप कहाँ रखते हैं वह माला? हम तो रोज आप का सामान देखते-उठाते हैं, कभी माला नहीं दिखी!" तब दादा बोले कि "मैं भगवान् का नाम जपता हूँ, उन्हें स्मरण करता हूँ—यह यदि दूसरों को मालूम हो जाय तो वह 'अव्यभिचारिणी भक्ति' नहीं रहेगी। लोगों को मालूम पड़ने दूँ तो व्यभिचार हो जायेगा न!—भगवान् का और मेरा एकान्त का सम्बन्ध है वह दूसरों को क्यों मालूम हो?"

ऐसे भी भक्त होते हैं। अतः आप को जो कुछ करना है वह ऐसी रीति से इस ढंग से करें कि उस की दहशत, उस का आतङ्क दूसरों पर न हो। इस के अलावा, यह आशा न रखें कि घर के सब लोग आप की प्रशंसा करेंगे कि बहुत अच्छा काम कर रहे हैं। परिवार आप का साथ दे, आप के "सत्कर्म" में शामिल हो, सहयोग करे—इस की आशा, अपेक्षा न रखें। वह भाग्य तो हजारों में किसी एक को मिलता है (नहीं भी मिलता) कि—पति, पत्नी, सन्तान, सारा परिवार उस एक विषय में आनन्द से सहभागी हो। वह आशा-अपेक्षा आप के चित्त में होगी तो एक तो वह न होने से दुःख होगा, दूसरे आग्रह आयेगा कि सब को भक्ति करनी ही चाहिये; तीसरे—अपने प्रति अभिमान उठेगा कि "ये लोग कोई भगवान् का नाम नहीं लेते, मैं भक्ति करता हूँ!" चित्त में एक अहं-पावित्र्य का भाव खड़ा होगा, और वह बाकी सब परिवार व समाज के साथियों से आप को अलग-एकाकी बना डालेगा (That will isolate you from the rest of the members of family....) दूसरे भी आप के साथ चलें—यह इच्छा न रखें।

अपेक्षा के भीतर आग्रह रहता है, आग्रह से फिर आक्रमण पैदा होता है।....उस रास्ते न जायें। साधना में आप को आनन्द आता हो, तो आप करते रहें। उस का परिणाम आप के बोलने-चलने में, आपके रहन-सहन-व्यवहार में पड़ेगा—तब स्वयं औरों के ध्यान में आयेगा कि "ये जो

करते हैं उस में कुछ विशेष बात है। इन का व्यक्तित्व बदल गया है, सत्त्व बदल गया है।""चलो हम भी वह कर के देखें।"

किसी को अभिमुखता स्वयं उदित हुए बिना, अपनी ओर से किसी को अध्यात्म की बात सुनाने न जायें। (गीता के अन्त में श्रीकृष्ण ने कहा है न !--"इदं ते नातपस्काय.....")

और जब तक "मै कुछ हूँ"--यह भान रहे, तब तक किसी को उपदेश देने के पचड़े में न पड़ें। "उपदेश करना-उपदेश देना"—ऐसी क्रिया की, कर्म की जब तक शक्यता है (यानी आप में कर्ताभाव है) तब तक बोलें ही नहीं। जब प्रभु ही आप को गर्दन पकड़ कर आप से बुलवाने लगें—तभी बोलें। नहीं तो, आप के आचरण में कुछ कमी हो, कोई विसंगति हो, तो लोग कहेंगे—"देखो ! सुबह हमसे कह रहे थे—और अब खुद क्या कर रहे हैं !" ऐसे आप अपने लिये ही कठिनाई खड़ी कर लेंगे--यदि वस्तुतः पूरी योग्यता व समय आने से पहले "उपदेश देने" चलेंगे।

आज के युवक वर्ग को सच ही बहुत विचित्र वातावरण मिला है—समाज में, घर में, विद्यालयों में, बाजार-हाट में, आर्थिक-राजनैतिक क्षेत्रों में। कहीं श्रद्धा उत्पन्न हो ऐसा इस देश का वातावरण नहीं रहा। इसलिये उन में श्रद्धा का अभाव है, भावना की आर्द्रता का अभाव है, इन के भाग में आयी है बस रूखी-सूखी, कहीं न ले जाने वाली तार्किकता।

हमारे आपके जमाने में तो तर्क भी सुप्रतिष्ठित, विधायक हुआ करता था। कहा जाता था—"दुष्ट तर्क न करो, अप्रतिष्ठित तर्क न करो !" उसके लिए कहा गया था "नैषा तर्केण मतिरापनेया" पर वह भाषा तो आजकी पीढ़ी बेचारी समझ ही नहीं सकती।

इनमें श्रद्धा का अभाव है, तितिक्षा (सहनशीलता) का अभाव है। ऐसा होने में माता-पिता-अभिभावकों का बहुत बड़ा हिस्सा है। क्यों कि १९४७ के बाद राजनैतिक स्वाधीनता आने पर मानो सबको लगने लगा कि अब तो सर्वतोमुखी उपभोग का परवाना ही मिल गया। इसलिये हमारा मन उपभोगपरायण बन गया। जीवनमूल्यों की उपेक्षा करके या बेचकर भी सुख-सुविधा मिलती है तो ले ली जाय—यहाँ तक नीचे उतर गये हम और सारा समाज। यही तो देखती आयी है यह नयी पीढ़ी। किसी की धर्म पर आस्था नहीं, भगवान् या परमात्मा पर आस्था

नहीं, जीवनमूल्यों पर श्रद्धा नहीं, मनुष्य पर–मानवता पर श्रद्धा नहीं, देश में समुचित नेतृत्व कहीं बचा नहीं, धर्म के नाम पर होने वाला खुला व्यापार, अध्यात्म के नाम पर होने वाला 'वाहियात'—पना (व्रात्य, भ्रष्ट अशोभन व्यवहार !) यही तो देखा है इन पीढ़ियों ने। इसीलिये इनमें तितिक्षा नहीं, सहन करने की शक्ति नहीं।

२०-२५ वर्ष पहले बच्चों को कहा जाता था–"चुप-चाप बैठो।" तो वे चुप बैठ जाते थे। आज कहें तो तुरन्त जबाब आता है--"क्यों चुप बैठें ?" आप नाराज होने लगें तो कहते हैं—"ठहरो, पहले बताओ कि क्यों गुस्से हो रही हो। फिर बोलना।"--अब बच्चे आपकी बात यों ही सुनने के नहीं। इसलिये अपने परिवार में भी बच्चों को उपदेश देने का मोह नहीं रखना चाहिये। यह तो मैंने व्यावहारिक दृष्टि से कहा। पारमार्थिक दृष्टि से भी कहती हूँ कि–"उपदेश करना"–यह अहंकार की क्रिया है "मैं कह रहा हूँ"–की भावना रहने तक अहंकार का कीचड़ चिपका रहता है। मिट्टी में गिरा फूल जैसे थोड़ी मिट्टी लिये रहता है, वैसे अहंकार का कीचड़ उन शब्दों में लगा रहता है। इसलिये जब प्रभु को ही आपका न बोलना सहन न हो, तभी बोलें। (गृहस्थाश्रमी सज्जन इस शिविर में से घर जायेंगे, तब उन्हें जिस वातावरण का सामना करना होगा और जो चुनौतियाँ सामने आयेंगी--उसमें कैसे व्यवहार करें—इसी दृष्टि से चलते-चलते यह कहा गया है।)

किसी भी व्यक्तिप्रामाण्य-ग्रन्थप्रामाण्य के बिना, किसी की भी 'शरण' गये, बिना, घर बैठे आत्मसाधना हो सकती है। जहाँ प्रयत्न की पराकाष्ठा होगी, वहाँ आँख मूँद कर कहें–"आप जो कोई भी हैं—प्रभु, विभु, परमात्मा, मातृरूप, पितृरूप, शक्तिरूप, ऊर्जारूप !—उन्हीं से कहता हूँ कि अब यहाँ मेरी शक्ति पूरी हो चुकी है, अब आप ही भीतर से शक्ति दीजिये या बाहर से मदद देने वाली शक्ति खड़ी कीजिये, अब आप सम्हाल लीजिये !" यह उस सर्वात्मा को कहें, विश्वात्मा को कहें—जो दिखता नहीं, पर भासित-प्रतीत होता है, जिसकी आवाज़ शब्दों के रूप में सुनाई नहीं देती पर अन्तर्नाद प्रतीत होता है। उनके प्रति सम्पूर्ण समर्पण भाव से शरणागत हो जावें। उन्हीं से प्रार्थना करें। प्रार्थना है प्रभु से प्रेमाचार। जैसे पुरुषार्थ जीवन का एक अंग है उसी प्रकार समर्पण एवं शरणागति उतना ही महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। हठयोग की सिद्धियाँ मनुष्य को खा जाती हैं। वह उग्रता, शुष्कता मनुष्यता को दबा देती है।

"वेदान्ताभ्यास जड़मति" हो जाती है। वह तभी होता है जब मनुष्य में समर्पण की नम्रता नहीं होती। अपने आप को लुटा देने की–सम्पूर्ण आत्मोत्सर्ग की प्रेमार्द्रता ही प्रणति, शरणागति, समर्पण में साधना का परिणमन करती है। जब प्रयत्नों की, पुरुषार्थ की पराकाष्ठा हो चुकती है। साधक कहता है—"मेरी समझ में जितना आया करता रहा, कर रहा हूँ,–पर मेरी समझ कितनी ? मेरी शक्ति कितनी सी ? जहाँ मेरी शक्ति जवाब दे रही है वहाँ हे प्रभो ! आप सम्भाल लीजिये ! मेरे कर्मों का जो भी परिणाम आयेगा वह भोगने को तत्पर हूँ। मेरी अपूर्णता को आप ही सम्हालिये।" ऐसी 'काकलूदी' (आर्त–पुकार विगलित हृदय से प्रार्थना) प्रभु से होने दीजिये।

इसे Auto suggessrion कहना हो तो कहे, प्रार्थना कहना चाहें तो प्रार्थना कहें, या प्रणति-प्रपत्ति-समर्पण-भाव कहें ! यह विश्वसत्ता से भावात्मक सम्बन्ध है। भावना नहीं, विचार नहीं, 'भाव' नाम का सूक्ष्म द्रव्य है। वह भक्ति का अधिष्ठान है। स्थिर भाव होने पर भीतर भाव-काया निर्माण होती है। अतः प्रणति का भाव रहे, पुरुषार्थ का कर्म रहे। प्रयत्न के साथ-साथ प्रपत्ति रहे–श्वास के साथ उच्छ्वास की तरह।····यह थोड़ा सा पाथेय बहन के नाते दे रही हूँ।

····एक बार भेंट होने पर, वस्तुतः भीतर से वियोग होता ही नहीं। If you really meet you never part !········

●

"न चाहूँ मुक्ति-धन-सम्पदा, सन्तसंग देना सदा !
तुका कहे गर्भवास में भले डालो प्रभो हमें !"
—ऐसे शूरवीर सन्तों की सन्तान हैं हम !

"जलचर जन्तु जैसे समुद्र में तूफानों और विराट् उत्तुङ्ग तरङ्गों से डरते नहीं, वैसे मेरे भक्त भी संसार में डरते नहीं"—ऐसा ज्ञानेश्वर महाराज ने वासुदेव-मुख से कहलाया है।

ऐसा सत्संग हमें–आपको नित्य मिलता रहे, यही प्रभु से प्रार्थना है।

उस के बाद ?

मन मुक्त हुआ, बुद्धि शुद्ध हुई,
अवधान सध गया, संवेदनशीलता सक्षम हुई,
लेकिन उसके बाद ?
मुक्ति क्या कोई मंजिल है--
कि जहाँ पहुँच कर ठिठक जाओगे ?
स्थिति एवं गति से सर्वथा भिन्न
निरपेक्ष जीवन ही मुक्ति है।
शुद्धि क्या जड़ता है ?—
कि जहाँ पहुँचकर जीवन रोधित होगा ?
जड़ता एवं निष्क्रियता से सर्वथा भिन्न
प्राञ्जल उन्मुक्त जीवन ही शुद्धता है।
अवधान क्या शून्यता है ?—
कि जहाँ पहुँचकर अभाव से घिर जाओगे ?
शून्यता एवं रिक्तता से सर्वथा स्वतन्त्र
सहज स्वाधीन जीवन ही सावधानता है।
संवेदनशीलता क्या बधिरता है ?—
कि जहाँ पहुँचकर जड़ जमा लोगे ?
बधिरता एवं पङ्गुता से सर्वथा भिन्न
विशिष्ट जीवन ही संवेदनशीलता का सक्षम होना है।
इसलिये कहती हूँ कि—
"उसके बाद क्या ?" यह प्रश्न अर्थहीन है।
न कुछ पहले है, न कुछ बाद,
न आज है न कल, न अनुकूल है न प्रतिकूल,
जीने में ही जीवन की परिपूर्ति है,
चरण उठाकर चलने में ही यात्रा की फलश्रुति है।

सकल गतियों की गति
जहाँ माँगे शरणागति,
उसकी सुगठित आकृति
मैं हूँ स्वयं भाव से।

समय की हटती स्मृति
जहाँ काल पाता शान्ति,
उस अनन्त की आकृति
मैं हूँ सहज भाव से।

सबको है जिसका ध्यान
मूर्त मात्र को जिसका भान,
उस अमूर्त की मूर्ति
मैं हूँ निज भाव से।

शब्दमात्र मौन होते
'परा' पल भर ठिठक जाती,
उस नाद-ब्रह्म की स्थिति
मैं हूँ अनायास ही।

पसारे आँचल जीवन्मुक्ति
गावे निर्वाण भी संस्तुति,
उस विशुद्ध की चरम स्थिति
मैं हूँ अनजाने ही।

आज अन्तरंग में अमृत-धारा हिलोरें ले रही है
उसके कल्लोल से तीनों भुवन भींग गये हैं।
आज उस अनुभूति के निर्झर में
चारों वाचाएँ नहा आई हैं।
शब्दों के परिधान उतार कर
उन्होंने मौन-वसन पहन लिये हैं।
आज दिक्-काल के उस पार
अपार्थिव आनन्द का समारोह है।
शब्द - बन्ध तोड़ कर चित्त
चैतन्य की बाहों में समाधिस्थ है।